जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि

डॉ० प्रेमसागर जैन, एम. ए., पी-एच. डी.
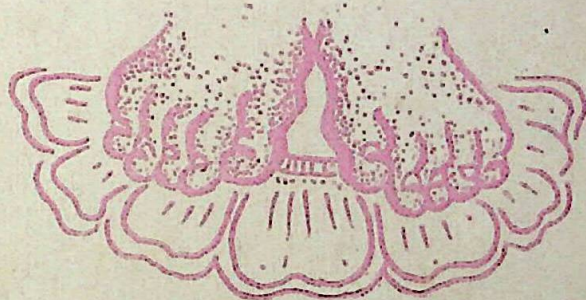
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

जैन-भक्तिकाव्यकी पृष्ठभूमि

लेखक
डॉ० प्रेमसागर जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
जैन कालिज, बड़ौत

प्राक्कथन
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्राक्कथन

श्री प्रेमसागरजी-द्वारा प्रणीत 'जैन-भक्तिकाव्यकी पृष्ठभूमि' नामक गवेषणापूर्ण निबन्धका मैं स्वागत करता हूँ। इसमें लेखकने शास्त्र, पुरातत्त्व और लोकस्थित परम्पराके आधारपर अत्यन्त व्यापक दृष्टिसे जैनधर्मके भक्ति-तत्त्व और भक्तिचर्यापर विचार किया है। भक्तिका जो स्वरूप कवियों-द्वारा काव्यके रूपमें ग्रथित होता है, उसका विकास, धर्म और दर्शनकी पृष्ठभूमिके अन्तर्गत ही समझना चाहिए। अतएव इन तत्त्वोंपर सहयुक्त विचारके द्वारा ही उपलब्ध सामग्रीकी उचित व्याख्या सम्भव है। ऐसा ही यहाँ किया गया है।

भक्ति, ज्ञान और कर्म—ये तीन साधनाके बड़े मार्ग हैं। ज्ञान मानव-जीवनको किसी शुद्ध अद्वैत तत्त्वकी ओर खींचता है, कर्म उसे व्यवहारकी ओर प्रवृत्त करता है; किन्तु भक्ति या उपासनाका मार्ग ही ऐसा है, जिसमें संसार और परमार्थ दोनोंकी एक साथ मधुर साधना करना आवश्यक है। माधुर्य ही भक्तिका प्राण है। देवतत्त्वके प्रति रसपूर्ण आकर्षण जब सिद्ध होता है, तभी सहज भक्तिकी भूमिका प्राप्त होती है। यों तो बाह्य उपचार भी भक्तिके अंग कहे गये हैं और नवधा भक्ति एवं षोडशोपचार पूजाको ही भक्ति-सिद्धान्तके अन्तर्गत रखा जाता है। किन्तु वास्तविक भक्ति मनकी वह दशा है, जिसमें देवतत्त्वका माधुर्य मानवी मनको प्रबल रूपसे अपनी ओर खींच लेता है। यह कहने-सुननेकी बात नहीं, यह तो अनुभवसिद्ध स्थिति है। जब यह प्राप्त होती है तब मनुष्यका जीवन, उसके विचार और कर्म कुछ दूसरे प्रकारके हो जाते हैं। सम्भवतः यह कहना उचित न होगा कि ज्ञानकी और कर्मकी उच्च भूमिकामें मनुष्य इस प्रकारके मानस-परिवर्तनका अनुभव नहीं करता। क्योंकि साधनाका कोई भी मार्ग अपनाया जाये, उसका अन्तिम फल देवतत्त्वकी उपलब्धि ही है। देवतत्त्वकी उपलब्धिका फल है आन्तरिक आनन्दकी अनुभूति अर्थात् विषयोंके स्वल्प सुखसे हटकर मनका किसी अद्भुत, अपरिमित, भास्वर सुखमें लीन हो जाना। अतएव किसी भी साधनापथको तारतम्यकी दृष्टिसे ऊँचा या नीचा न कहकर हमें यही भाव अपनाना चाहिए कि रुचि-भेदसे मानवको इनमें-से किसी एकको चुन लेना होता है। तभी मन अनुकूल परिस्थिति पाकर उस मार्गमें ठहरता है। वास्तविक साधना

वह है, जिसमें मनका अन्तर्द्वन्द्व मिट सके और अपने भीतर ही होनेवाले तनाव या संघर्षकी स्थितिसे बचकर मनकी सारी शक्ति एक ओर ही लग सके। जिस प्रकार बालक माताके दूधके लिए व्याकुल होता है और जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अन्नके लिए क्षुधित होकर सर्वात्मना उसीकी आराधना करता है, वैसे ही अमृत देवतत्त्वके लिए जब हमारी भावना जाग्रत हो, तभी भक्तिका विपुल सुख समझना चाहिए। भक्तिका सूत्रार्थ है भागधेय प्राप्त करना। यह भागधेय कौन प्राप्त करता है और कहाँ, इन दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका उत्तर यह है कि एक ओर मर्त्य मानव है और दूसरी ओर अमृत देवतत्त्व। इन दोनोंका सम्बन्ध विश्वविधानकी ओरसे ही नियत है। मानवको ही अपना उचित अंश प्राप्त करना है और जिसमें वह अंश प्राप्तव्य है, उसीकी संज्ञा देव है। उस अनन्त अमृत आनन्दरूप देवकी अनेक संज्ञाएँ भारतीय धर्मसाधनामें पायी जाती हैं। नामोंके भेदके पीछे एक स्वरूपकी एकता स्पष्ट पहचानी जाती है। देवोंमें छोटे और बड़ेकी कल्पना अतात्त्विक है। जो महान् है वही देव है। जो अल्प है वही मानव है। भूमाको देव और सीमाको मानव कह सकते हैं। सीमा दुःख और अभावका हेतु है, भूमा आनन्द और सर्वस्व उपलब्धिका। इस प्रकारके किसी भी देवतत्त्वके लिए मानवके मनकी अविचल स्थिति भक्तिके लिए अनिवार्य दृढ़भूमि है।

मनुष्य जीवनकी किसी भी स्थितिमें हो, सर्वत्र वह अपने लिए भक्तिका दृष्टिकोण अपना सकता है। पिताके लिए पुत्रके मनमें, पतिके लिए पत्नीके मनमें, गुरुके लिए शिष्यके मनमें जो स्नेहकी तीव्रता होती है, वही तो भक्तिका स्वरूप और अनुभव है। उस प्रकारका सम्बन्ध कहाँ सम्भव नहीं? वही दिव्य स्थिति है, उसके अभावमें हम केवल पार्थिव शरीर रह जाते हैं और हमारे पारस्परिक व्यवहार यन्त्रवत् भावशून्य हो जाते हैं। अतएव मानवके भीतर जो सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु है अर्थात् हृदयमें भरे हुए भाव, उनके पूर्णतम विकासके लिए भक्ति आवश्यक है। जिसमें हृदयके भाव तरंगित नहीं होते, वह भी क्या कोई जीवन है? सत्य तो यह है कि मानवको अपनी ही पूर्णता और कल्याणके लिए भक्तिकी आवश्यकता है। यह भी कहा जा सकता है कि जैसे मानव देवके लिए आकांक्षा रखता है, वैसे ही देव भी मानवसे मिलनेके लिए अभिलाषी रहता है। बिना पारस्परिक सम्बन्धके भक्ति सम्भव नहीं। किन्तु उसके लिए तैयारीकी आवश्यकता है। अभीप्सा होनी ही चाहिए। जिस प्रकार स्फटिकको सूर्यकी आवश्यकता है, उसी प्रकार सूर्य-रश्मियोंकी सार्थकता स्फटिकमें प्रकट होती है। स्फटिकके समान ही मनकी स्वच्छता बाह्य भक्तिचर्याका उद्देश्य

है। जब इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त होती है तब देवतत्त्वका सहज अनुभव हृदयमें आता है। इसमें सन्देह नहीं ?

हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी धर्मोंने भक्तिपदको स्वीकार किया है। यह एक प्राचीन साधना-मार्ग रहा है। अतएव जैन दृष्टिकोणसे इसके विषयमें यहाँ जिस सामग्रीका संकलन किया गया है, वह उपादेय और ज्ञानवर्धक है।

काशी विश्वविद्यालय
११ फ़रवरी १९६३

—वासुदेवशरण अग्रवाल
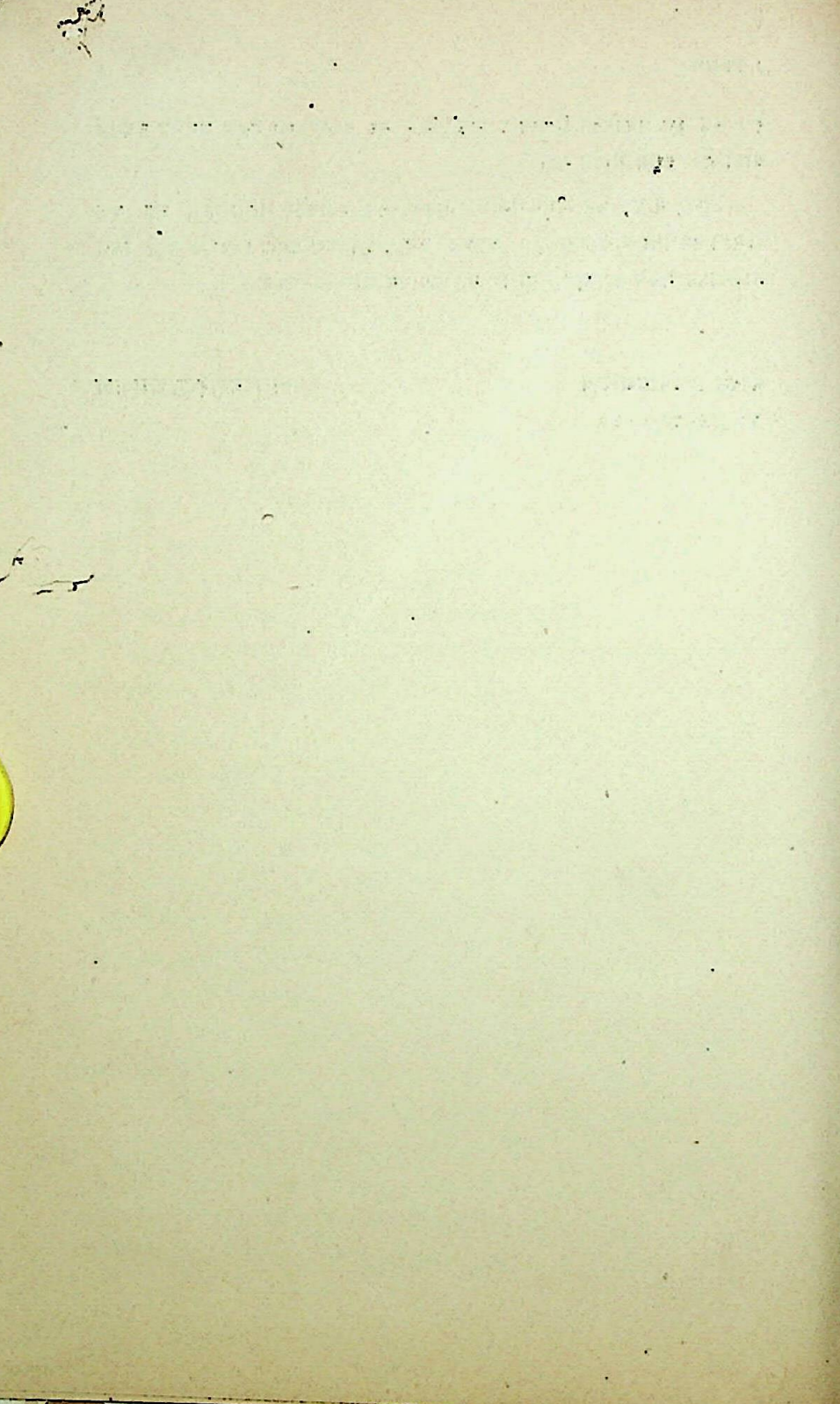
भूमिका

"जैनधर्म ज्ञानप्रधान है, भक्तिका उससे सम्बन्ध नहीं।" एक ख्याति प्राप्त विद्वान्का ऐसा वाक्य सुनकर मैं चुप रह गया। कुछ छोटा-मोटा विवाद करना भी चाहा, किन्तु उनके गम्भीर व्यक्तित्व और पैनी विद्वत्ताके समक्ष संकुचित हो रह जाना पड़ा। उन दिनों मैं काशी विश्वविद्यालयका छात्र था। जिज्ञासाएँ आती-जाती थीं, किन्तु उनमें चपलता थी—सरकन अधिक, स्थिरता कम। वह न तो सूक्ष्मावलोकनकी उम्र थी और न वैसा अभ्यास बन सका। बात आयी-गयी हो गयी।

आगे चलकर जब हिन्दीका भक्ति-काव्य मेरे विशेष अध्ययनका विषय बना तो कबीर, जायसी, सूर और तुलसीके काव्योंको तो पढ़ा ही, साथमें उनपर लिखे गये आलोचनात्मक साहित्यके अवलोकनका भी अवसर प्राप्त हुआ। पृष्ठभूमिके रूपमें भारतके विविध भक्ति-मार्गोंके तुलनात्मक विवेचनने मेरे मनको आकर्षित किया। एक दिन सूझा कि ब्राह्मण, बौद्ध, सूफी आदिके साथ यदि जैन-भक्ति-मार्ग पर भी कुछ लिखा हुआ उपलब्ध हो सके, तो भारतकी भक्ति-साधनाका अध्ययन पूरा हो। जैन-भक्तिपर कोई ग्रन्थ न मिला। इसके साथ ही वर्षों पहलेका उपर्युक्त वाक्य पुनः मनमें उभर आया और यह प्रश्न कि—'क्या जैनधर्मका भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं?' फिरसे आकुल करने लगा। इसी जिज्ञासाके कारण मैं प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनामें प्रवृत्त हो सका। जब इस विषयको विश्वविद्यालयकी विद्या-परिषद्ने स्वीकार कर लिया, तो मुझे और भी प्रोत्साहन मिला। खोजमें तत्पर हुआ। उसीका यह परिणाम है, जो विद्वानोंके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ।

जैनधर्म 'ज्ञान प्रधान' है, यह कथन सत्य है, किन्तु उसका भक्तिसे सम्बन्ध नहीं, असत्य है। जहाँ ज्ञानकी भी भक्ति होती हो, वहाँ भक्तिपरकता होगी ही। जैन आचार्योंने 'दर्शन' का अर्थ श्रद्धान किया और उसे ज्ञानके भी पहले रखा। श्रद्धाको प्राथमिकता देकर आचार्योंने भक्तिको ही प्रमुखता दी। यहाँ तक ही नहीं, उन्होंने भक्ति-भावनाके आधारपर तीर्थङ्कर नामकर्मका बन्ध भी स्वीकार किया। उनकी भक्ति-सम्बन्धी आस्था असंदिग्ध थी। तुलसीके बहुत पहले विक्रमकी पहली शतीमें, आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् जिनेन्द्रसे ज्ञानप्रदान करनेकी याचना कर चुके थे। अर्थात् वे जिनेन्द्रकी भक्तिसे ज्ञानका प्राप्त

होना स्वीकार करते थे। दूसरी ओर आचार्य समन्तभद्रने सुश्रद्धा उसीको कहा, जो ज्ञानपूर्वक की गयी हो। उनके अनुसार ज्ञानके बलपर ही श्रद्धा सुश्रद्धा बन पाती है, अन्यथा वह अन्ध-श्रद्धा-भर रह जाती है। आचार्य समन्तभद्र ज्ञान-मूला भक्तिके पुरस्कर्त्ता थे। जैन साधनामें भक्ति और ज्ञान दो विरोधी दूरस्थ तत्त्व नहीं हैं। उनका सामीप्य सिद्धान्तके मज़बूत आधारपर टिका है।

आत्माके ज्ञानरूपका दिग्दर्शन करानेवाला कोई जैन आचार्य ऐसा नहीं, जिसने भगवान्के चरणोंमें स्तुति-स्तोत्रोंके पुष्प न बिखेरे हों। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकायका निर्माण किया, तो लोगस्ससुत्त, प्राकृत भक्तियाँ और भावपाहुडकी भी रचना की। मध्यकालके प्रसिद्ध मुनि रामसिंहके 'पाहुडदोहा' पर इसी 'भावपाहुड' का प्रभाव माना जाता है। पाहुड-दोहा अपभ्रंशकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें वे सभी प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं, जो आगे चलकर हिन्दीके निर्गुण-काव्यकी विशेपता बनीं। उनमें रहस्यवाद प्रमुख है। निराकार परमात्माके प्रति भावविह्वल होनेकी बात, सबसे पहले सूफियोंने नहीं, अपितु भावपाहुडके रचयिताने कही। वहाँसे गुज़रती हुई यह धारा पाहुड-दोहाको प्राप्त हुई।

विक्रमकी छठी शताब्दीमें आचार्य पूज्यपादने जिनेन्द्रके अनुरागको भक्ति कहा है। यह ही अनुराग आगे चलकर नारदके भक्तिसूत्रमें प्रतिष्ठित हुआ। यद्यपि राग मोहको कहते हैं और जैनोंका समूचा वाङ्मय मोहके निराकरणकी बात करता है; किन्तु वीतरागीमें किया गया राग उपर्युक्त मोहकी कोटिमें नहीं आता। मोह स्वार्थपूर्ण होता है और भक्तका राग निःस्वार्थ। वीतरागीसे राग करनेका अर्थ है, तद्रूप होनेकी प्रबल आकांक्षाका उदित होना। अर्थात् वीतरागी-से राग करनेवाला स्वयं वीतरागी बनना चाहता है। इस तादात्म्य-द्वारा प्रेमा-स्पदमें तन्मय होनेकी उसकी भावना है। सभी प्रेमी ऐसा करते रहे हैं। इसे ही आत्म-समर्पण कहते हैं। अहैतुक प्रेम भी यह ही है। इसीसे समरसी भाव उत्पन्न होता है। जैन आचार्योंने वीतरागी भगवान् जिनेन्द्र और आत्माके स्वरूपमें भेद नहीं माना है। दोनोंमे-से किसीसे प्रेम करना एक ही बात है। और अरूपी-अदृष्ट आत्मासे प्रेम करनेको रहस्यवाद कहते हैं। पूज्यपादने उसे भक्ति कहा है। उनकी दृष्टिमें दोनों एक हैं, पर्यायवाची हैं। आचार्य पूज्यपाद एक ओर जैन सिद्धान्तके पारगामी विद्वान् थे, तो दूसरी ओर उन्हें एक भावुक भक्तका हृदय मिला था। उन्होंने जहाँ तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि-जैसे महाभाष्यकी रचना की, तो संस्कृत भाषामें जैन भक्तियोंपर अनेक स्तोत्रोंका भी निर्माण किया। उनसे मध्ययुगीन

रहस्यवादके अनुसन्धित्सुओंको नयी दिशा मिलेगी।

आचार्य समन्तभद्रने अपनी तार्किक प्रतिभाके बलपर अनेक प्रवादियोंको निरस्त कर दिया था। उन्हें भारतीय दर्शनोंका सूक्ष्म ज्ञान था। वे पण्डित थे, वाग्मी थे, नैय्यायिक थे, दार्शनिक थे। उन्होंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' और 'स्तुति-विद्या'का निर्माण किया। दोनोंमें भक्तिरस है–वैसा ही चरम आनन्द। भारतके भक्ति-साहित्यको वह एक अनूठी देन है। समन्तभद्र अलौकिक प्रतिभा और सरस हृदयके धनी थे। ऐसा व्यक्तित्व फिर केवल शंकराचार्यको ही मिला। उनमें भी प्रतिभा और हृदयका समन्वय था। कुमारिलभट्ट और मंडनमिश्रका विजेता लौह पुरुष नहीं था। 'भज गोविन्दं' स्तोत्र उनके द्रवणशील हृदयका प्रतीक है।

भट्ट अकलंक एक प्रसिद्ध दार्शनिक थे। उन्होंने राजवार्तिकका निर्माण किया। दर्शनके क्षेत्रमें इस ग्रन्थकी ख्याति है। दूसरी ओर उन्होंने अकलंक-स्तोत्रकी रचना की। उसका सम्बन्ध विशुद्ध भक्तिसे है। आचार्य सिद्धसेन नैयायिक थे, किन्तु कल्याणमन्दिरस्तोत्र उनके सरस हृदयका प्रतीक है। सिद्धहेमव्याकरणके रचयिता आचार्य हेमचन्द्रकी विद्वत्ता और राजनीति, दोनों ही क्षेत्रोंमें समान गति थी। गुजरातके महाराजा सिद्धराज उनके अनुयायी थे। गुजरातकी राजनीतिपर आचार्य हेमचन्द्र अनेक वर्षों तक छाये रहे। विद्वत्ता तो जैसे उनकी जन्मजात सम्पत्ति थी। वे व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, सिद्धान्तके अप्रतिहत विद्वान् थे। उन्हें भी हृदय भक्तका मिला था। अर्हन्त-स्तोत्र, महावीर-स्तोत्र और महादेव-स्तोत्र इसके प्रमाण हैं। उनमें रस है, आनन्द है और हृदयको आराध्यमें तल्लीन करनेकी सहज प्रवृत्ति। पात्र-केशरीकी विद्वत्ताके क्षेत्रमें ख्याति थी। उन्होंने एक ओर 'त्रिलक्षणकदर्थन' लिखा, तो दूसरी ओर 'पात्रकेशरी-स्तोत्र'की रचना की। आचार्य मानतुंगके भक्तामर-स्तोत्रकी तो संसारके विद्वानोंने प्रशंसा की है। वह एक भक्त-हृदयका सरस निदर्शन है। सारांश यह कि शायद ही कोई ऐसा जैन आचार्य हो, जिसने सैद्धान्तिक विद्वत्ताके साथ-साथ भक्तिपरक काव्योंकी रचना न की हो।

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंशमें शतशः स्तुति-स्तोत्र रचे गये। उनमें जैन भक्तोंका अच्छा योगदान है। विपुल परिमाणमें जो स्तुति-स्तवन रचे गये, उन सबका प्रामाणिक संकलन तभी सम्भव है, जब सभी जैन भण्डारोंको टटोल लिया जाये। संस्कृत और प्राकृतमें लिखे गये अनेक स्तुति-स्तोत्र मिल चुके हैं, उनमें-से कुछका प्रकाशन भी हुआ है। अपभ्रंश-स्तोत्रोंके लिए पाटण-भण्डारका सुपरीक्षण

आवश्यक है। उसकी सूचीसे विदित है कि वहाँ अपभ्रंशके गीत और स्तवन पर्याप्त मात्रामें मौजूद हैं। नागौरका भण्डार भी इस दृष्टिसे उपयोगी है। अपभ्रंशसे ही भारतकी हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओंका जन्म हुआ है। उनकी प्रवृत्तियोंपर अपभ्रंशका प्रभाव है। हिन्दीका भक्ति-काव्य भी अछूता नहीं है। जयपुरस्थ पाटौडीके ग्रन्थ-भण्डारमें रल्हकी 'जिनदत्त-चौपई' अभी प्राप्त हुई है। वह अपभ्रंशके भक्ति-काव्यका उत्तम दृष्टान्त है। धर्मघोषसूरिका महावीरकलश, रइधूका 'सोऽहं गीत', 'दशलक्षण जयमाल', वल्हवका 'नेमीश्वर गीत', और गणिमहिमासागरकी 'अरिहंत चौपई' इसी शृंखलाकी कड़ियाँ हैं। हिन्दीकी आध्यात्मिक-भक्तिके रूपकोंका प्रारम्भ हरदेवके मयण-पराजय-चरिउ और कवि पाहलके मनकरहारासके मानना चाहिए। सूरदासके वियोग-वर्णनपर विनयचन्द्रसूरिकी नेमिनाथ चतुष्पदीका प्रभाव है। स्वयम्भूके पउमचरिउकी सीताकी शालीनता, सौन्दर्य और पति-निष्ठा तुलसीकी रामायणमें प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। पुष्पदन्तके महापुराणकी कृष्णलीलाका विकसित रूप सूरसागरमें निबद्ध है। धनपालकी भविसयत्तकहाके पात्रोंका यदि नाम बदल दिया जाये, तो जायसीका पद्मावत बन जाये।

केवल स्तुति-स्तोत्र या स्तव-स्तवन ही नहीं, पूजा, वन्दना, विनय, मंगल और महोत्सवोंके रूपमें भी जैन-भक्ति पनपती रही है। विक्रमकी पहली शताब्दी तकके ग्रन्थोंमें उनके उद्धरण निबद्ध हैं। मंगलोंमें 'णमो अरिहंताणं' भगवान् महावीरसे भी पहलेका है। विद्यानुवाद नामके 'पूर्व'का प्रारम्भ उसीसे हुआ था। इसकी रचना तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके समयमें, अर्थात् ईसासे ८५० वर्ष पूर्व हुई। जैन लोग 'णमो अरिहंताणं'को अनादिनिधन मानते हैं। पुरातत्त्वमें उसका प्राचीनतम उत्खनन सम्राट् खारवेल (ईसासे १७० वर्ष पूर्व) के शिलालेखमें पाया जाता है। इसी भाँति महोत्सवोंमें तीर्थङ्करके जन्मोत्सवका प्रथम उल्लेख श्री विमलसूरि (वि० सं० ६०) के 'पउमचरिय' (प्राकृत) में उपलब्ध होता है। आधुनिक खोजोंसे भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध किये जा चुके हैं। वह तीर्थङ्कर थे। बनारसके यशस्वी महाराज अश्वसेनके घर उनका जन्म हुआ था। उनका जन्मोत्सव मनाया गया, इसका प्रमाण तेरापुरकी गुफाएँ हैं, जिनमें पार्श्वनाथके जन्मोत्सवका चित्र अंकित है। वे गुफाएँ विक्रम संवत्से आठ शताब्दी पूर्व बनी थीं।

उपर्युक्त जैन भक्ति-काव्योंकी सबसे बड़ी विशेषता है उनकी शान्तिपरकता। कुत्सित परिस्थितियों और संगतियोंमें भी वे शान्तरससे दूर नहीं हटे। उन्होंने

कभी-भी अपनी ओटमें शृङ्गारिक प्रवृत्तियोंको प्रश्रय नहीं दिया। जगन्माताओंकी सुहागरातोंको मंगलाचरणके रूपमें प्रस्तुत करना नितान्त अमांगलिक है। एक ओर उन्हें माँ कहना और दूसरी ओर उनके अंग-प्रत्यंगमें मादकताका रंग भरना उपयुक्त नहीं है। इससे माँका भाव विलुप्त होता है और सुन्दरी नवयौवना नायिकाका रूप उभरता है। घनाश्लेषमें आबद्ध दम्पति भले ही दिव्यलोक-वासी हों, पाठक या दर्शकमें पवित्रता नहीं भर सकते। भगवान् पतिकी आरतीके लिए अँगूठोंपर भगवती पत्नीका खड़ा होना ठीक है, किन्तु साथ ही पीनस्तनोंके कारण उसके हाथकी पूजा-थालीके पुष्पोंका बिखर जाना कहाँ तक भक्ति-परक है? देव शंकरके साथ उमाकी भाँति, तीर्थंकर नेमीश्वरके साथ राजुलका नाम लिया जाता है। राजशेखरसूरिके 'नेमिनाथफागु' में राजुलका अनुपम सौन्दर्य अंकित है, किन्तु उसके चारों ओर एक ऐसे पवित्र वातावरणकी सीमा लिखी हुई है, जिससे विलासिताको सहलन प्राप्त नहीं हो पाती। उसके सौन्दर्यमें जलन नहीं, शीतलता है। वह सुन्दरी है, किन्तु पावनताकी मूर्त्ति है। उसको देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है। जिनपद्मसूरिके 'थूलिभद्दफागु'में कोशाके मादक सौन्दर्य और कामुक विलास-चेष्टाओंका चित्र खींचा गया है। युवा मुनि स्थूलभद्रके संयमको डिगानेके लिए सुन्दरी कोशाने अपने विशाल-भवनमें अधिकाधिक प्रयास किया, किन्तु कृतकृत्य न हुई। कविको कोशाकी मादकता निरस्त करना अभीष्ट था, अतः उसके रति-रूप और कामुक भावोंका अंकन ठीक ही हुआ। तपकी दृढ़ता तभी है, जब वह बड़ेसे-बड़े सौन्दर्यके आगे भी दृढ़ बना रहे। कोशा जगन्माता नहीं, वेश्या थी। वेश्या भी ऐसी-वैसी नहीं, पाटलिपुत्रकी प्रसिद्ध वेश्या। यदि जिनपद्मसूरि उसके सौन्दर्यको उन्मुक्त भावसे मूर्तिमन्त न करते तो अस्वाभाविकता रह जाती। उससे एक मुनिका संयम मज़बूत प्रमाणित हुआ, यह मंगल हुआ।

जैन आचार्योंने भक्तिके १२ भेद किये थे, किन्तु दोको अन्यमें अन्तर्भुक्त कर १०की ही मान्यता चली आ रही थी। मैंने १२ पर लिखा है। सभीका विश्लेषण सभी दृष्टियोंसे पूर्ण हुआ है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह सच है कि साहित्य और सिद्धान्तके साथ-साथ इतिहास तथा पुरातत्त्वकी दृष्टिको भी प्रमुखता दी है। निर्गुण और सगुण ब्रह्मके रूपमें दो प्रकारकी भक्तियोंसे सभी परिचित हैं, किन्तु निराकार आत्मा और वीतराग साकार भगवान्का स्वरूप एक माननेके कारण दोनोंमें जैसी एकता यहाँ सम्भव हो सकी है, अन्यत्र कहीं नहीं। अन्यत्र तो सगुण-भक्तोंने निर्गुणका और निर्गुण-उपासकोंने सगुणका खण्डन

किया है। दोनोंके बीच एक मोटी विभाजक रेखा पड़ी है। यहाँ सिद्ध-भक्तिके रूपमें निष्कल ब्रह्म और तीर्थङ्कर-भक्तिमें सकल ब्रह्मका केवल विवेचनके लिए पृथक् निरूपण है, अन्यथा दोनों एक हैं। आगे चलकर हिन्दीके जैन भक्त कवियों-को यह बात विरासतमें मिली। प्रत्येक कविने एक ओर आत्माके गीत गाये तो दूसरी ओर अर्हन्तके चरणोंमें श्रद्धा-दीप जलाये। उसने निर्गुणभक्ति और सगुण-भक्ति जैसे दो खण्डोंकी कभी कल्पना भी नहीं की। जैनभक्तिकी यह विशेषता उसकी अपनी है।

सभी भक्तिपरक ग्रन्थोंमें—शाण्डिल्य और नारदके भक्ति-सूत्रोंमें, हरिभक्ति-रसामृतसिन्धुमें ज्ञान, योग और समाधिको ज्ञानक्षेत्रके विषय मानकर भक्तिसे नितान्त पृथक् रखा गया है। किन्तु यहाँ श्रुत-भक्तिमें पाँच प्रकारके ज्ञान, योगिभक्तिमें योग और समाधिभक्तिमें समाधिकी नाना प्रकारसे भक्ति की गयी है। अर्थात् ज्ञान और भक्तिमें पृथक्त्व मानते हुए भी अपृथक्त्वका निर्वाह हुआ है। यह अनेकान्तात्मक परम्पराके अनुरूप ही है। पंचपरमेष्ठी-भक्ति और आचार्य-भक्ति गुरु-भक्तिसे सम्बन्धित हैं। केवल जैन ही नहीं अपितु समूची भारतीय परम्परामें गुरुका प्रतिष्ठित स्थान है। किन्तु जब दूसरी जगह गुरु और गोविन्दमें भेद बताया गया, तब यहाँ गोविन्दको ही गुरु कहकर, उसके गौरवको और अधिक बढ़ा दिया गया है। पंचपरमेष्ठीमें 'अर्हन्त' और 'सिद्ध' भी शामिल हैं, जो 'जैनगोविन्द' ही हैं। 'आचार्य' शब्द तो आज भी प्रचलित है, और पहले भी रहा; किन्तु जैन श्रमणसंघोंके आचार्य तप और ज्ञानकी मूर्त्ति होते थे। उनके तपःपूत व्यक्तित्वमें एक ऐसा आकर्षण होता था, जो समीपस्थ वातावरणको श्रद्धा-से अभिभूत रखता था। यह अभिभूति श्रद्धास्पद और श्रद्धालुमें अभेद स्थापित करती थी।

जैनभक्तोंका आराध्य केवल दर्शन और ज्ञानसे ही नहीं, अपितु चरित्रसे भी अलंकृत था। इसीमें उसकी पूर्णता थी। चरित्रकी महिमा सब जगह गायी गयी है; किन्तु उसे भक्तिसे नितान्त पृथक् माना है। यहाँ चरित्रकी भी भक्ति की गयी है, चरित्र और भक्तिका ऐसा समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। यह वह भक्ति है, जिसका सम्बन्ध एक ओर बाह्य संसारसे है, तो दूसरी ओर आत्मासे। इसके कारण एक समूचे व्यक्तित्वमें शालीनता समा जाती है। वह व्यवहारमें लोक-प्रिय बनता है और उसकी आत्मामें परमात्माका दिव्य तेज दमक उठता है। पुरातत्त्वमें तीर्थङ्करकी मूर्तिके चारों ओर जो परिवेष उत्कीर्णित रहता है, वह इसी तेजका प्रतीक है।

ज्ञानियोंका लक्ष्य है निर्वाण, उसे भी भक्तिका विषय बनाकर 'निर्वाण-भक्ति' की रचना की गयी। उसमें जैन निर्वाण-भूमियों और तीर्थ-यात्राओंका विवेचन है। जैन तीर्थक्षेत्रोंका विषय 'इतिहास' और 'भूगोल'से सम्बन्धित है। अभी तक उसपर हुई शोध अल्पादपि-अल्प कहलायगी। यदि आज कोई 'विविधतीर्थ-कल्प'के रचयिता श्री जिनप्रभसूरिकी भाँति सभी तीर्थक्षेत्रोंमें जाये, तत्सम्बन्धी पुरातत्वका अध्ययन करे और भण्डारोंमें पड़ी प्राचीन सामग्रीको देखे, तो एक प्रामाणिक ग्रन्थ बन सकता है। उसकी आवश्यकता है।

नन्दीश्वरद्वीपमें स्थित बावन जिन चैत्यालयों और प्रतिमाओंकी पूजा-वन्दनाकी बात नन्दीश्वर-भक्तिमें कही गयी है। जैन भूगोलके अनुसार नन्दीश्वर द्वीप आठवाँ द्वीप है। इसकी समूची रचना अकृत्रिम है। वहाँ कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़के अन्तिम आठ दिनोंमें देव वन्दना करने जाते हैं। जैनोंका आष्टह्निक पर्व इसीसे सम्बन्धित है। यह प्राचीनकालमें मनाया जाता था और आज भी इसका प्रचलन है। नन्दीश्वर द्वीप भौगोलिक खोजका विषय हो सकता है, किन्तु जैन लोग उसकी भक्ति पुरातन कालसे करते आ रहे हैं। प्राकृत-संस्कृत-निबद्ध उसकी स्तुतियाँ भी उपलब्ध हैं। शान्ति-भक्तिमें शान्तिकी बात है। सभी शान्ति चाहते हैं, अर्थात् दिल-ही-दिलमें उसका महत्त्व मानते और उसे पानेकी अभिलाषा करते हैं। जैनोंने अपना यह हृदय शान्ति-भक्तिके रूपमें प्रकट किया है। शान्ति-भक्ति शान्तरसकी ही भक्ति है। चौबीस तीर्थङ्कर शान्तरसके प्रतीक माने जाते हैं। किन्तु उनमें भी सोलहवें भगवान् शान्तिनाथकी विशेष ख्याति है। उनकी भक्ति शान्ति-भक्तिमें शामिल है।

चैत्य शब्द बहुत प्राचीन है। जैन आचार्योंने उसका वृक्ष, सदन, प्रतिमा, आत्मा और मन्दिरके अर्थमें प्रयोग किया है। तीर्थङ्करके समवशरणमें चैत्यवृक्षोंका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उनकी आराधना की जाती है। बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी 'चैत्य' शब्दका पवित्र वृक्षोंके अर्थमें प्रयोग हुआ है। ए-ग्रुनवेडलने अपनी 'बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया'में यह स्पष्ट किया है (देखिए पृ० २०-२१)। चैत्य शब्दका अधिकांश प्रयोग पूजा-स्थानके अर्थमें हुआ है। पूजा-स्थानका अर्थ केवल बिल्डिंग ही नहीं, अर्थात् सदन और मन्दिर ही नहीं, अपितु प्रतिमा, वृक्ष, बिम्ब और अन्य धार्मिक चिह्न भी हैं। जैन आचार्योंने प्रतिमा और बिम्बका एक ही अर्थमें प्रयोग किया है। आचार्य हेमचन्द्रके अनेकार्थ कोषके काण्ड २, श्लोक ३६२ में "चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बं······।" से यह बात स्पष्ट है। रामायणमें भी "हेम-बिम्बनिभा सौम्या मायेव मयनिर्मिता" के द्वारा बिम्ब और मूर्त्तिको एक बताया

है। यह कथन निरर्थक है कि चैत्यका अर्थ प्रतिमा नहीं होता। सूत्रकृतांगकी दीपिकामें "मंगलं देवतां चैत्यमिव पर्युपासते", ठाणांगसूत्र सटीकमें "चैत्यमिव जिनादिप्रतिमेव चैत्यं श्रमणं", आवश्यक हारिभद्रीयमें "चैत्यानि-अर्हत्प्रतिमा" और प्रश्नव्याकरणमें "चैत्यानि-जिनप्रतिमा" लिखा है। हार्नेल-द्वारा सम्पादित 'उवासगदसाओ'की टीकामें भी "चैत्यानि अर्हत्प्रतिमालक्षणानि" दिया हुआ है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें चैत्य शब्द देवमन्दिर और देवप्रतिमा दोनों ही अर्थोंमें लिया गया है। ए० कर्न लिखित "मैनुयल आव बुद्धिज्म"में चैत्यका अर्थ 'इमेज' किया है।

जैन आचार्योंने अर्हन्त और अर्हन्तप्रतिमामें कोई अन्तर स्वीकार नहीं किया, अतः जैनोंका चैत्यवन्दन 'अर्हन्तवन्दन'के समान ही 'अर्हन्तप्रतिमा वन्दन' पर भी लागू होता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायनके अनुसार "बौद्धोंमें चैत्यसे मूर्त्ति में पूजा-प्रतीकका विकास हुआ, किन्तु चैत्यवन्दन मूर्तिवन्दनका पर्यायवाची कभी नहीं रहा। ऐसा ही जैनोंमें होना चाहिए, यदि ऐसा नहीं तो पुरातात्त्विक सामग्री से उसे पुष्ट करना चाहिए।" जब विक्रमकी पहली शतीके ग्रन्थोंमें जिन और जिन-प्रतिमाको एक ही कहा तो चैत्य-वन्दन केवल जिन-वन्दन कैसे रह जायगा। उसका अनेक ग्रन्थोंमें, जिन-प्रतिमा-वन्दनके अर्थमें भी समान रूपसे प्रयोग हुआ है। महात्मा बुद्धने वैशालीकी चैत्य-पूजाका उल्लेख किया है। जैन ग्रन्थोंमें भी इसका वर्णन है। महावीर और बुद्धके समयमें प्रतिमाओंकी रचना होती थी या नहीं, अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु जब मोहन-जो-दड़ोकी खुदाइयोंमें तीन हज़ार वर्ष पुरानी मूर्त्तियाँ मिली हैं, तो महावीरके युगमें भी मूर्त्तियोंका अभाव न होगा। जैनोंमें उस मूर्त्तिका वर्णन मिलता है, जिसे नन्दराजा कलिंगसे उठा ले गये थे और जिसे सम्राट् खारवेल १७० वर्ष ईसा पूर्वमें वापस लाया। अभी लोहिनीपुरमें एक जिन-मूर्ति मिली है। उसका समय ईसासे तीन सौ वर्ष पूर्व कूता जाता है। अतः यह असम्भव नहीं है कि भगवान् महावीरके माता-पिता जिस-चैत्यमें प्रतिदिन जिन-वन्दनके अर्थ जाते थे, वहाँ कोई जिन-मूर्ति अधिष्ठित हो। यह भी हो सकता है कि वैशालीका मुनिसुव्रत स्वामीका चैत्य उनकी मूर्त्तिसे संयुक्त हो।

यह सत्य है कि चैत्य यक्षोंके आवास-गृह थे, किन्तु यह भी ठीक ही है कि यक्षोंको जैन परम्परा सदैव जिन-भक्तके रूपमें ही स्वीकार करती रही है। उनकी भक्ति भगवान्‌के भक्तोंकी भक्ति है। आज भी 'महावीरजी' में अतिशयपूर्ण महावीर-मूर्त्तिकी महिमाके विस्तारका श्रेय एक यक्षको दिया जाता है। अतः यक्षके आवास-गृहका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ जिन-मूर्त्ति नहीं होगी। यक्षकी

उपकार-वृत्तिके कारण कभी-कभी ऐसा होता था कि उसके नामपर चैत्यका नाम पड़ जाता था। औपपातिक आगम ग्रन्थमें चम्पाके एक प्रसिद्ध चैत्यका वर्णन आया है। उसका नाम 'पूर्णभद्र चैत्य' था। वह यक्ष पूर्णभद्रके नामपर प्रतिष्ठित था। पूर्णभद्र और मणिभद्रकी गणना, जिनेन्द्रके प्रथम कोटिके भक्तोंमें की जाती है। अतः उसका नाम भले ही पूर्णभद्रचैत्य हो, किन्तु उसमें जिन-मूर्त्ति नहीं होगी, सिद्ध नहीं होता; भक्त तो वहाँ ही रहेगा, जहाँ उसका आराध्य हो।

जिनेन्द्रके भक्तोंमें देवियोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थमें पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, सच्चियामाता, सरस्वती और कुरुकुल्लाका विवेचन किया गया है। वैसे तो अनेक शासनदेवियाँ और विद्यादेवियाँ हैं, जिनकी पूजा-भक्ति होती रही है, किन्तु उनमें उपर्युक्त सातकी विशेष मान्यता है। उनके सम्बन्धमें अनेक ग्रन्थ बने, मन्दिर-मूर्तियोंका निर्माण हुआ और स्तुति-स्तवन रचे गये। यहाँ इन सभी दृष्टियोंसे उनपर विचार किया गया है। सच्चियामाता हिन्दुओंकी महिषासुरमर्दिनी थी। वह महिषोंके रुधिर और मांससे ही तृप्त होती थी। एक बार उसे भूख लगी, तो वह श्री रत्नप्रभसूरिजीके पास पहुँची, उन्होंने उसे जैन बना लिया। सूरिजी विक्रमकी १३वीं शताब्दीमें हुए थे। अर्थात् महिषासुरमर्दिनी जैन देवि सच्चियामाताके रूपमें विक्रमकी १३वीं शताब्दीसे परिणत हुई। उसके पूर्व सच्चियाका अस्तित्व नहीं था। इसी प्रकार कुरुकुल्ला वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदायकी बौद्ध देवी है। वह सर्पोंकी देवी कहलाती है। एक बार उसने श्री देवसेनसूरिका उपदेश सुना तो जैन बन गयी। श्री सूरिजीका समय १२वीं शतीका अन्त और तेरहवींका प्रारम्भ माना जाता है। अर्थात् कुरुकुल्लाकी जैन मान्यता १३वीं शतीसे प्रारम्भ हुई। महापण्डित राहुलने लिखा है, "गया ज़िलेमें कुरुविहार कुरुकुल्लाविहारका ही परिवर्तित नाम है। आज वहाँके लोग उसे भूल गये हैं। बहुत वर्ष नहीं हुए जब कि वहाँ एक खेतसे कला, पुरातत्त्व और मूल्यमें भी अत्यन्त महर्घ सैकड़ों मूर्त्तियाँ मिली थीं, जो आज पटना म्युजियममें रखी हैं।" देवी सरस्वतीकी रूपरेखाका निर्वाण-कलिकामें उल्लेख आया है। यह जैनमन्त्रसे सम्बन्धित एक प्रसिद्ध कृति है। इसके रचयिता पादलिप्तसूरि ईसाकी ३री शतीमें हुए हैं। जैन लोग सरस्वतीके भक्त थे। उन्होंने उसे पवित्रताका प्रतीक माना है। उनके भक्ति-भाव केवल स्तुति-स्तोत्रोंमें ही नहीं, मनमोहक मूर्तियोंमें भी बिखरे हुए हैं। वप्पभट्टसूरिकी 'सरस्वती-स्तुति' अनुपम है। उन्होंने एक 'सरस्वतीकल्प' भी बनाया था। यह ईसाका ८वीं-९वीं शतीका समय था। मध्यकालमें १०वींसे १३वीं शतीतक

जितनी सरस्वतीकी मूर्तियाँ बनीं, उनमें जैन सरस्वती-प्रतिमाओंकी भव्यताकी तुलना नहीं की जा सकती।

प्रथम चार देवियाँ--पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी और ज्वालामालिनी जैन-मन्त्रकी शक्तिशालिनी देवियाँ हैं। उनसे सम्बन्धित पुरातन साहित्य और पुरातत्त्व उपलब्ध है। उनपर अनेक मन्त्र-ग्रन्थों और कल्पोंका निर्माण हुआ। उनमें मल्लिषेणसूरिका 'भैरवपद्मावती-कल्प' अत्यधिक प्रसिद्ध है। श्री मल्लिषेण ११वीं-१२वीं शतीके आचार्य थे। उनसे भी पूर्व मुनि सुकुमारसेन (८वीं शती ईसवी) का 'पद्मावती-कल्प' उन्हींकी कृति विद्यानुशासनमें निबद्ध है। इसी ग्रन्थमें 'ज्वालिनी-कल्प' भी है, जो देवी ज्वालामालिनीसे सम्बन्धित है। 'अम्बिका-कल्प' भी है। एक अम्बिका-कल्पकी रचना श्री बप्पभट्टिसूरिने की थी, जो उन्हींकी रचना जिनचतुर्विंशतिकामें लिखा हुआ है। देवी अम्बिकाको माँकी ममताका प्रतीक माना गया है। पद्मावतीके बाद अम्बिकाका ही स्थान है। चक्रेश्वरी अपने दस हाथोंमें दस चक्र धारण करती थी, अतः उसे चक्रेश्वरी कहते थे। इन देवियों-की शक्ति दुर्गा, काली और तारासे कम नहीं थी। वे भी दुष्टोंका विनाश और सन्तोंका संरक्षण करती थीं। मन्त्रोंकी सतत साधना और भक्तिसे उनका वरदान भी मिलता था। वे कराल थीं और उदार भी। किन्तु अन्तर तो बना ही रहा। जैनदेवीने जैनत्व नहीं छोड़ा। ऐसा कभी नहीं हुआ कि वे बलिसे प्रसन्न हुई हों। उन्हें सिद्ध करनेके लिए नीचकुलोत्पन्न कन्याओंके आसेवनकी बात भी नहीं चली। ऐसा भी नहीं हुआ कि भाद्रपदकी अमावसकी रातमें एक सौ सोलह कुँआरी, सुन्दरी कन्याओंको बलि देनेका किसी जैनने व्रत लिया हो। वे कराला थीं, किन्तु उनकी करालता व्यभिचार या मदिरा-मांससे तृप्त नहीं होती थी। सतगुणोंका प्रदर्शन ही उनको सन्तुष्ट बना सकता था।

जैनोंमें 'मान्त्रिक सम्प्रदाय'-जैसा कोई सम्प्रदाय नहीं था। कुछ आचार्य, सूरि, भट्टारक और साधु मन्त्रविद्याके भी पारंगत विद्वान् थे, किन्तु उन्होंने उसका उप-योग सांसारिक वैभवोंकी प्राप्तिमें नहीं किया। वह युग वाद-विवादोंका था। बौद्धिक अखाड़ेबाजियाँ चलती ही रहती थीं। जब कोई प्रतिद्वन्द्वी मन्त्रका उपयोग करता था, तो इधरसे भी करना पड़ता था। ऐसे ही एक वाद-विवादमें बौद्धोंने 'तारा'की सहायता ली, तो श्री हरिभद्रसूरिने अम्बिकाका वरदान प्राप्त किया और भट्टाकलंकने पद्मावतीका। भर्तृहरिने मन्त्रके बलपर रसायन सिद्ध किया। उससे स्वर्ण बनना था। उन्होंने उसका कुछ अंश अपने भाई शुभचन्द्रके पास भी भेजा। वे जैन मुनि हो गये थे, वीतरागी थे, अतः लेनेसे इनकार कर दिया। साथ ही

सामनेकी एक पहाड़ीको अपनी मन्त्र-विद्यासे स्वर्णकी बनाकर भी दिखा दिया। आचार्य समन्तभद्रने स्वयम्भू-स्तोत्रके उच्चारणसे चन्द्रप्रभकी मूर्त्ति प्रकट कर दी थी। आचार्य मानतुंग ४८ तालोंमें बन्द थे। भक्तामरके एक-एक श्लोकपर ताले खुलते गये और वे बाहर आ गये। भट्टारक ज्ञानभूषण मन्त्रोंके विशेष जानकार और साधक थे। उन्होंने उनका प्रयोग मूर्त्तियों और मन्दिरोंके बनवाने और उन्हें पवित्र करनेमें किया। जैन साधुओंके पास विद्याएँ थीं, मन्त्र थे, देवियाँ सिद्ध थीं, किन्तु उन्होंने उन्हें राग-सम्बन्धी पदार्थोंमें कभी नहीं लगाया। जैन मन्त्र सांसारिक वैभवोंके देनेमें सामर्थ्यवान होते हुए भी वीतरागी बने रहे। देवियाँ जिनेंद्रकी भक्त थीं और वे अपने साधकोंको केवल वीतरागी भावोंके पोषणमें ही सहायता करती थीं। कुछ चैत्यवासी साधुओंमें, एक ऐसी लहर आयी थी, जो राग-सम्बन्धी सिद्धिकी ओर मुड़ रही थी, किन्तु अनेक आचार्योंके ज़ोरदार विरोधने उसे समाप्त ही कर दिया। लहर आयी और चली गयी। जैनमन्त्रोंकी वीतरागता भारतीय संस्कृतिका शानदार पहलू है।

इन देवियोंके अतिरिक्त जैन लोग देवोंके भी उपासक थे। इस ग्रन्थमें यक्ष, धरणेन्द्र, इन्द्र, लौकान्तिकदेव, सूर्य, नायगामेष, ब्रह्मदेव, नागदेव और भूतोंपर लिखा गया है। यक्ष मन्त्रोंसे सिद्ध होते हैं, किन्तु वे केवल उन्हींकी सहायता करते हैं, जो जिनेन्द्रके भक्त हैं। जिन-शासनके प्रचारमें उनका योगदान प्रसिद्ध है। धरणेन्द्र देवी पद्मावतीके पति हैं। उन्होंने तीर्थङ्कर पार्श्वनाथकी, भूतानन्दके भीषण उपसर्गसे रक्षा की थी। पद्मावतीसे सम्बन्धित मन्त्र धरणेन्द्रपर भी लागू होते हैं। नागोंको जैन परम्परामें देव माना गया है। उनकी संसिद्धिसे मनोकामनाएँ पूरी होती हैं। प्राचीनतम भारतमें एक जाति नागोंकी इतनी भक्त थी कि उसका अपना नाम नागजातिके नामसे विख्यात हो गया। इसमें भारतके प्रसिद्ध राजे, विद्वान् और साधु हुए हैं। जैनोंमें भूतोंकी भी आराधना प्रचलित है, किन्तु केवल उनके द्वारा सम्भावित बाधाओंका निराकरण करनेके लिए ही। जैन लोग उन्हें विघ्नकारक मानते हैं। नायगामेष गर्भधारणके देवता हैं। उनकी विचित्र रूपरेखा आकर्षणका विषय है। कहा जाता है कि देवी त्रिशलाके गर्भ परिवर्त्तनमें उन्हींका हाथ था।

भारतीय संस्कृतिके अध्ययनमें जैन पुरातत्त्वका गौरवपूर्ण स्थान है। यदि उसे निकाल दिया जाये, तो ऐसा समझना चाहिए कि एक विशेष अंशको ही निकाल दिया गया। भगवान् ऋषभदेवके पुत्र सम्राट् भरतने, पोदनपुरमें अपने भाई बाहुबलि, जिन्होंने बारह वर्ष तक तप किया था, की खड्गासन मूर्त्ति बनवायी

थी, ऐसा जैन पुराणोंसे सिद्ध है। मध्यकालके चामुण्डराय अपनी माताको पोदनपुरके बाहुबलिके दर्शन कराने चले, तो विदित हुआ कि न पोदनपुर है और न वह मूर्ति। उन्होंने श्रवणबेलगोलमें बावन फीट ऊँची एक दूसरी मूर्त्तिका निर्माण करवाया। आज भी वह मूर्त्ति कालके कराल थपेड़ोंको सहकर खड़ी है। झाँसीकी रानीसे हारकर भागता हुआ एक अँगरेज़ जब उस मूर्त्तिके सामनेसे गुज़रा, तो मौतका भय भूलकर, भौचक-सा खड़ा रह गया। उसने ऐसी मूर्त्ति पश्चिमी देशों और समूचे भारतमें कहीं नहीं देखी थी। मथुराकी कंकाली टीलेकी खुदाइयोंमें, जिस जैन मन्दिरके अवशेष मिले हैं, वह ईसासे १५० वर्ष पूर्व बना था। उसके खण्डहरोंसे स्पष्ट विदित होता है कि वह अपने युगमें सौन्दर्यका प्रतिष्ठान रहा होगा। आबूके जैन मन्दिर ऐसे नयनाभिराम हैं कि उन्हें देखनेके लिए केवल जैनभक्त ही नहीं, सभी जातियों और देशोंके लोग लालायित रहते हैं। राजस्थान तो जैनपुरातत्त्वका प्रतीक ही है। उसके पद-पद पर जैन मन्दिरों और मूर्त्तियोंका सौन्दर्य बिखरा पड़ा है। यदि उन्हें समेट लिया जाये तो जैसे वह निष्प्राण ही रह जायगा। उसकी शुष्क धराको जैन कलाकारोंने सुन्दर पुष्पोंसे गूँथा था। वे अमर चिह्न अपनी सुगन्धि विकीर्ण करते आज भी जीवित हैं। राजस्थान जैन चित्रकलाका भी केन्द्र रहा है। मन्दिरोंकी भित्तियों, वस्त्रों और ताड़पत्रोंपर सूक्ष्म भावोंको उकेरा गया है। उससे सिद्ध है कि जैन चित्रकार उत्तम चितेरे थे। आध्यात्मिक भावोंको चित्रोंमें, स्वाभाविक ढंगसे प्रस्तुत करना आसान नहीं है। समूचे रूपमें यह कहा जा सकता है कि जैन पुरातत्त्वमें तीर्थङ्करोंकी, शासन-देवियोंकी और देवोंकी ही मूर्त्तियाँ अधिक हैं। उन्हींसे सम्बन्धित मन्दिर और चित्र हैं। भगवान् हैं और उनके भक्त हैं। उनकी भक्तिसे सम्बद्ध महोत्सव, पूजा, उपासना-वन्दनाके 'एकतें एक आगर' दृश्य हैं। सब कुछ भक्तिमय है। फिर यह कहना, "जैन धर्म ज्ञानप्रधान है, उसमें भक्तिको स्थान नहीं," कहाँ तक उपयुक्त है, पाठक स्वयं सोचें।

यह ग्रन्थ मेरे शोधनिबन्ध 'हिन्दीके भक्ति-काव्यमें जैन साहित्यकारोंका योग-दान'का पहला खण्ड है। हिन्दीके जैन-भक्तकवियों और उनके काव्यकी खोज करते हुए, ऐसा स्पष्ट आभासित हुआ कि, उनपर उन्हींकी पूर्वगामी परम्पराका प्रभाव है। उसका अनुशीलन करनेसे यह ग्रन्थ तैयार हुआ। इसकी एक-एक पंक्तिको पढ़कर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने मुझे, जिस स्नेहसे मार्ग दिखलाया, वह भुलानेकी बात नहीं है। यहाँ यदि आभार-प्रदर्शन किया जाये, तो उनके स्नेहको गौण करना होगा। यदि चुप रहूँ तो कृतघ्नता होगी। अतः अपने उस

भावकी श्रद्धा अर्पित करता हूँ, जिसे मैं प्रकट नहीं कर पा रहा।

इस ग्रन्थके प्रकाशित करानेकी प्रेरणा महापण्डित राहुल सांकृत्यायनसे मिली। उन्होंने इसकी परीक्षा करते हुए लिखा, "निबन्धके प्रकाशित होनेपर भारतकी सभी साहित्यिक भाषाओंके विद्यार्थियोंको बहुत लाभ होगा।" मैं उनके प्रति अतीव कृतज्ञ हूँ। एक दिन दिल्लीमें कलकत्ताके बाबू छोटेलालजीने इस ग्रन्थको देखा, पढ़ा और उन्हें रुचा। उन्होंने इसे भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित करानेकी प्रेरणा की। वे मेरे अपने ही हैं। आभार क्या, उन्हें मेरे भाव विदित हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशीकी लोकोदय ग्रन्थमालाके विद्वान् सम्पादक श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन और उनके सहयोगियोंके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ। उन्होंने इसके प्रकाशनमें जैसी तत्परता दिखायी, वह लेखकोंके प्रति उनके सहृदय व्यवहारका सूचक है।

'जैन भक्ति-काव्यकी पृष्ठभूमि' यदि पाठकोंको रुचिकर हुई, तो मैं इस प्रयत्न को सार्थक मानूँगा।

—डॉ० प्रेमसागर जैन

दि० जैन कालेज, बड़ौत,
दिनाङ्क २५-१२-१९६२

विषय सूची

: १ :

जैन-भक्तिका स्वरूप

'भक्ति' शब्दकी व्युत्पत्ति

'भक्ति' शब्द, 'भज' धातुमें स्त्रीलिंग क्तिन् प्रत्यय जोड़कर बनता है, ऐसा अभिधानराजेन्द्रकोशमें माना गया है[1]। मुनि पाणिनिने 'स्त्रियाँ क्तिन्' से, धातुओंमें स्त्रीवाची क्तिन् प्रत्यय लगानेका विधान किया है।[2] क्तिन् प्रत्यय भाव अर्थमें होता है किन्तु वैयाकरणोंके यहाँ कृदन्तीय प्रत्ययोंके अर्थ-परिवर्त्तन एक प्रक्रियाके अंग हैं। अतः वही क्तिन् प्रत्यय अर्थान्तरमें भी हो सकता है। इस प्रकार भक्ति शब्दकी, भजनं भक्तिः, भज्यते अनया इति भक्तिः, भजन्ति अनया इति भक्तिः, इत्यादि व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं।

भक्ति और सेवा

'भज सेवायाम्'से भज धातु सेवा अर्थमें आती है। पाइअ-सद्द-महण्णवमें भी भक्तिको सेवा कहा है।[3] राजेन्द्रकोशमें 'सेवायां भक्तिर्विनयः सेवा' कहकर भक्तिको सेवा तो माना ही है, सेवाका अर्थ भी विनय किया है।[4] विनयके चार भेद हैं,[5] जिनमें उपचारविनयका सेवासे मुख्य सम्बन्ध है। आचार्य पूज्यपादने[6]

---

१. अभिधानराजेन्द्रकोश : पाँचवाँ भाग, पृष्ठ १३६५।

२. महामुनि पाणिनि, अष्टाध्यायीसूत्रपाठ : वार्त्तिकादियुक्त, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ३।३।९४।

३. पाइअ-सद्द-महण्णव : पण्डित हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ सम्पादित, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९२८ ईसवी, पृष्ठ ७९६।

४. अभिधानराजेन्द्रकोश : पाँचवाँ भाग, पृष्ठ १३६५।

५. "ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचारः।"
देखिए, आचार्य उमास्वाति [दूसरी शताब्दी विक्रम]। तत्त्वार्थसूत्र : पण्डित सुखलालजी संघवी सम्पादित, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, १९५२ ईसवी, ९।२३, पृष्ठ ३२१।

६. पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने आचार्य पूज्यपादका समय विक्रमकी छठी शताब्दी निर्धारित किया है।
देखिए, जैन साहित्य और इतिहास : नवीन संस्करण, संशोधित साहित्य-माला, ठाकुरद्वार, बम्बई २, अक्टूबर १९५६, पृष्ठ ४६।

उपचारविनय—आचार्योंके पीछे-पीछे चलने, सामने आनेपर खड़े हो जाने, अंजलिबद्ध होकर नमस्कार करनेको कहा है।[1] निशीथचूर्णिमें भी, 'अब्भुट्ठाण-दंडग्गहणपायपुंछणासणप्पदाणगहणादीहिं सेवा जा सा भत्ति' लिखा है।[2] इसका अर्थ है—आचार्योंके सम्मानमें खड़े हो जाना, दण्डग्रहण करना, पायं पोंछना, आसन देना आदि जो सेवा हैं, वह ही भक्ति है। आचार्य वसुनन्दिने[3] उपचार-विनयके भी तीन भेद किये हैं,[4] जिनमें कायिक उपचारविनयका सेवासे सीधा सम्वन्ध है। उन्होंने लिखा, "साधुओंकी वन्दना करना, देखते ही उठकर खड़े हो जाना, अंजली जोड़ना, आसन देना, पीछे-पीछे चलना, शरीरके अनुकूल मर्दन करना और संस्तर आदि करना कायिक विनय है।[5]" आचार्य शान्तिसूरि-

---

१. प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। देखिए, आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं. फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वि० सं० २०१२, पृ० ४४२।

२. जिनदासगनी, निशीथचूर्णि [सातवीं-आठवीं शताव्दी विक्रम] : विजय-प्रेमसूरीश्वर सम्पादित, वि० सं० १९९५, १३०।

३. आचार्य वसुनन्दि, बारहवीं शताव्दीके प्रथम चरणमें हुए हैं। देखिए, वसुनन्दि-श्रावकाचार : पं० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, अप्रैल १९५२, प्रस्तावना, पं० हीरालाल जैन लिखित, पृ० १९।

और

पुरातन जैन वाक्य सूची : प्रथम भाग, पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पा-दित, वीरसेवामन्दिर,सरसावा [सहारनपुर], १९५० ईसवी, भूमिका, पृ० १००।

४. उवयारिओ वि विणओ मण-वचि-काएण होइ विवियप्पो। आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दि श्रावकाचार : पं० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, अप्रैल १९५२, ३२५वीं गाथा, पृ० ११४।

५. किरियम्मब्भुट्ठाणं णवणंजलि आसणुवकरणदाणं।
एते पच्चुग्गमणं च गच्छमाणे अणुव्वजणं॥
कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं।
संथारभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं॥
इच्चेवमाइ काइयविणओ रिसि-सावयाण कायव्वो।
देखिए वही : गाथा ३२८-३३०, पृ० ११५।

ने एक प्राचीन गाथाकी[1] व्याख्या करते हुए कहा है,—सुर और सुरपति, भक्तिवशाद्, अंजलिवद्ध होकर भगवान् महावीरको नमस्कार करते हैं, वह ही सेवा है।[2] आचार्य श्रुतसागर सूरिने भी आचार्य, उपाध्याय आदिको देखकर खड़े होने, नमस्कार करने, परोक्षमें परोक्ष विनय करने और गुणोंका स्मरण करनेको भगवान्की सेवा कहा है।[3]

आचार्य कुन्दकुन्द [पहली शताब्दी विक्रम]ने वैयावृत्यको भी भक्ति कहा है। उनका कथन है, "हे मुने! भक्तिपूर्वक अपनी शक्ति-भर जिन-भक्ति-में तत्पर, दश भेदवाले वैयावृत्यको सदा करो।[4]" यह वैयावृत्य भगवान्की सेवा ही है। आचार्य समन्तभद्रने[5] लिखा है, "गुणानुरागसे संयमियोंकी आप-

---

१. जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति।
तं देवदेव महिअं, सिरसा वंदे महावीरं॥
श्री शान्तिसूरि, चेइयवंदण महाभासं : जैन आत्मानन्दसभा भावनगर, वि० सं० १९७७, पाद-टिप्पण १।

२. बाहिरिगा वि हु सेवा, संभवइ अओ विसेसओ भणियं।
जं देवा पंजलिणो, भत्तिवसाओ नमंसंति॥
सेवा—नमंसणाइं, सुरेहिं कोरंति सुरवईणं पि।
तं देवदेवमहियं, सुरवइमहियं ति संलत्तं॥
देखिए वही : गाथा ७३५-७३६, पृ० १३२।

३. आचार्योपाध्यायादिषु अध्यक्षेपु अभ्युत्थानं वन्दनाविधानं करकुड्मलीकरणं, तेषु परोक्षेषु सत्सु कायवाङ्मनोभिः करयोटनं गुणसङ्कीर्त्तनमनुस्मरणं स्वयं ज्ञानानुष्ठायित्वञ्च उपचारविनयः।
आचार्य श्रुतसागर सूरि, तत्त्वार्थवृत्ति : पं० महेन्द्रकुमार जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मार्च १९४९, ९।२३की व्याख्या, पृ० ३०४।

४. णियसत्तिए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं॥
कुन्दकुन्दाचार्य, अष्टपाहुड : आचार्य श्रुतसागरकी संस्कृत टीका और पं० जयचंद छावड़ाकी भाषाटीका सहित, श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला, मारौठ (मारवाड़), भावपाहुड : १०५वीं गाथा।

५. पं० जुगलकिशोर मुख्तारने अनेक तर्क-वितर्कोंके आधारपर प्रामाणिक रूपसे, आचार्य समन्तभद्रका समय विक्रमकी दूसरी अथवा ईसाकी पहली शताब्दी निर्धारित किया है।
देखिए, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैनसाहित्य और इतिहासपर विशद-प्रकाश : वीर शासन संघ, कलकत्ता, जुलाई १९५६, पृ० ६९७।

त्तियांको दूर करना, उनके चरणोंको दबाना तथा और भी उनका जो उपग्रह है—वैयावृत्त्य कहा जाता है।[१]" उन्होंने वैयावृत्त्यमें ही 'देवाधिदेवचरणे-परिचरणं'को गिना है। श्री शिवार्यकोटिने भी भगवतीआराधनामें लिखा है, "अरहंत भक्ति तथा सिद्धभक्ति अर आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु भक्ति अर निर्मल धर्ममें भक्ति ये सम्पूर्ण वैयावृत्त्य करी होय है। जातैं रत्नत्रयका धारकनिकी वैयावृत्त्य करी सो सर्वधर्मके नायकनिकी भक्ति करी।"[३]

भक्ति और श्रद्धा

भक्तिके पर्यायवाचियोंमें श्रद्धाका प्रधान स्थान है। श्री हेमचन्द्राचार्यके प्राकृत व्याकरणमें भक्तिको श्रद्धा ही कहा है।[४] पाइअ-सद्द-महण्णवमें भी भक्ति-के पर्यायवाचियोंमें सेवाके साथ श्रद्धाकी भी गणना है।[५] आचार्य समन्तभद्रने 'समीचीनधर्मशास्त्र'में श्रद्धान और भक्तिका एक ही अभिप्राय माना है।[६]

जैन-शास्त्रोंमें श्रद्धाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उससे मोक्ष तक मिल सकता

---

१. व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुण-रागात्।
वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥
आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र: पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, अप्रैल १९५५, ५।२२, पृ० १४८।

२. देखिए वही : ५।२९, पृ० १५५।

३. अरहंतसिद्धभत्ती, गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य।
आसेविदा समग्गा, विमला वरधम्मभत्ती य॥
श्री शिवार्यकोटि (विक्रमकी सातवीं शताब्दी) भगवती आराधना : मुनि श्री अनन्तकीर्त्ति दि० जैन ग्रन्थमाला ८, हीराबाग, बम्बई, वि०सं०१९८९ २२वाँ पद्य, पृ० १५२।

४. आचार्य हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण : डॉ० आर. पिशेल सम्पादित, बम्बई, संस्कृत सीरीज, १९००, २।१५९।

५. पाइअ-सद्द-महण्णव : पण्डित हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द शेठ सम्पादित, कलकत्ता प्रथम संस्करण, १९२८ ईस्वी, तीसरा भाग, पृ० ७९६।

६. अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥३७॥
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥
आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, अप्रैल १९५५, १।३७, ४१, पृ० ७२, ७५।

है। श्री उमास्वातिने तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है।[1] आचार्य समन्तभद्र आप्तादिके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं।[2] सम्यग्दर्शन मोक्षका साधन है।[3] दर्शन शब्द 'दृशि' धातुसे बना है, जिसका अर्थ देखना होता है। फिर सम्यग्दर्शनमें पड़े हुए 'दर्शन'को श्रद्धान कैसे मान लिया? उत्तर देते हुए भट्टाकलंकने राजवार्त्तिकमें लिखा है, "धातुओंके अनेकार्थ होते हैं, इसलिए उनमें-से 'श्रद्धान' अर्थ भी ले लिया जायेगा। चूँकि यहाँ मोक्षका प्रकरण है, अतः दर्शनका अर्थ देखना इष्ट नहीं, तत्त्व-श्रद्धान ही इष्ट है।[4]" आचार्य कुन्द-कुन्दने लिखा है कि आत्म-दर्शन ही सम्यग्दर्शन है,[5] किन्तु अकलंकदेवका मत है कि आत्माका दर्शन तबतक नहीं हो सकता, जबतक वैसा करनेकी श्रद्धा जन्म न ले। श्रद्धापूर्वक किया गया प्रयास ही 'आत्म-दर्शन' करानेमें समर्थ होगा। अतः दर्शनका पहला अर्थ श्रद्धान है, दूसरा साक्षात्कार।

जैन-परम्परामें श्रावक शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस शब्दमें 'श्रा' का अर्थ श्रद्धान

---

१. 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्', देखिए आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी (मथुरा) १।२, पृ० ३।

२. श्रद्धानं परमार्थानामाप्ताऽऽगमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥
आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, अप्रैल १९५५, १।४, पृ० ३२।

३. 'जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु'
देखिए, योगीन्दुदेव, परमात्मप्रकाश : श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये सम्पादित, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, नयी आवृत्ति, १९३७, २।१२, पृ० १३८।

४. दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्थासंप्रत्यय इति चेत्; न; अनेकार्थत्वात्। ३।
मोक्षकारणप्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः। ४।
आचार्य भट्टाकलंक (सातवीं शताब्दी विक्रम), तत्त्वार्थवार्त्तिक : भाग १, पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, हिन्दी अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १।२, ३।४ वार्त्तिक, पृ० १९. हिन्दी अनु०, पृ० २७६।

५. तह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु य सा होइ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दसणं तं तु॥ ३५६॥
आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार : पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, फरवरी १९५३, पृ० ४८४।

ही है।[१] श्रावक केवल श्रद्धा करता है, और ऐसा करनेसे उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन[२]। सरागियों अर्थात् श्रावकोंको होनेवाला सम्यग्दर्शन, सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है[३]। ऐसा श्रावक केवल वाह्य रूपसे रागी दिखायी देता है, किन्तु उसका अन्तः तो पवित्र श्रद्धासे युक्त रहता है।

श्रावक, श्रद्धाके द्वारा ही आत्म-साक्षात्कारका फल पा लेता है। वह अपनी आत्माको देखनेका प्रयास नहीं करता, किन्तु जिनेन्द्रमें श्रद्धा करता है। जिनेन्द्रका स्वभाव रागादिसे रहित, शुद्ध आत्माका स्वभाव है। इस भाँति जो अरहंतको जानता है, वह अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपको ही जानता है, और जो अरहंतके स्वरूपमें स्थिर रहता है, वह अपने आत्मस्वरूपमें ही स्थिर रहता है[४]।

आचार्य समन्तभद्रने श्रद्धाके स्थानपर सुश्रद्धाका प्रयोग किया है[५]। श्रद्धा तो अन्ध भी हो सकती है; किन्तु सुश्रद्धाके ज्ञान-चक्षु सदैव खुले रहते हैं। वैसे तो प्रत्येक श्रद्धा ज्ञानपूर्वक ही होती है, क्योंकि मनुष्यमें साधारण ज्ञान प्रत्येक समय रहता है, किन्तु सुश्रद्धा एक विशिष्ट ज्ञानपूर्वक होती है। आचार्य समन्तभद्रने सर्वज्ञकी परीक्षामें इसी विशिष्ट ज्ञानका परिचय दिया था।[६] श्री सिद्धसेन

---

१. 'श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः'।
देखिए, अभिधानराजेन्द्रकोश, 'सावय' शब्द।

२. 'तत् द्विविधं, सराग-वीतरागविषयभेदात्'॥
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र जैन सिद्धान्तशास्त्री सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वि० सं० २०१२, पृ० १०।

३. देखिए वही : पं० फूलचन्द्रजी कृत हिन्दी व्याख्या, पृ० ११।

४. आचार्य शिवार्यकोटि, भगवती आराधना : मुनि श्रीअनन्तकीर्त्ति ग्रन्थमाला ८, बम्बई, पृ० ३०२, ४९वीं गाथाका भावार्थ।

५. 'सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते।
देखिए, आचार्य समन्तभद्र, स्तुतिविद्या : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, वि० सं० २००७, ११४वाँ पद्य, पृ० १२७।

६. अतएव ते बुध-नुतस्य चरित-गुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, सरसावा, वि० सं० २००८, १२०वाँ पद्य, पृ० ८१।

दिवाकरने "अनेन परीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः"के द्वारा कहा है कि, आचार्य समन्तभद्र परीक्षा करनेके उपरान्त ही भगवान् जिनेन्द्रके दृढ़ भक्त बने थे। वस्तुतः भक्तिमें दृढ़ता सुश्रद्धासे ही आ पाती है। आचार्य समन्तभद्र भगवान् जिनेन्द्रके ऐसे दृढ़ भक्त थे कि उन्होंने 'जिन' भगवान्को छोड़कर अन्य किसी देवको कभी नमस्कार नहीं किया। उन्होंने उसीको प्रज्ञा कहा, जो भगवान् जिनेन्द्रका स्मरण करे, और उन्होंने उसीको उत्तम, पवित्र तथा पण्डित स्वीकार किया जो भगवान् जिनेन्द्रके चरणोंमें सदैव नत रहे[3]। उनका विचार

---

१. पं० सुखलालजी संघवीने आचार्य सिद्धसेन दिवाकरका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दी निर्धारित किया है। देखिए पं० सुखलालजी संघवी, 'सिद्धसेन दिवाकरना समयनो प्रश्न', भारतीय विद्या : भाग ३ [बहादुरसिंहजी स्मृतिग्रन्थ] भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४५, पृ० १५४।

और

पं० जुगलकिशोर मुख्तारने उनको, विक्रमकी छठी शताब्दीके तृतीय चरणसे सातवीं शताब्दीके तृतीय चरणके मध्यवर्ती कालका स्वीकार किया है। देखिए जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश: श्री वीरशासनसंघ, कलकत्ता, जुलाई १९५६, पृ० ५६६।

और

डॉ० विण्टरनिट्ज़ने उनका समय ईसाकी सातवीं सदी माना है। देखिए, Dr. Winternitz, History of Indian Literature, Vol. II, Calcutta Univresity, 1933, p. 477.

२. य एष षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।
अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः॥
आचार्य सिद्धसेन, द्वात्रिंशिकास्तोत्र : अवचूरि-सहित, श्री उदयसागर सूरि सम्पादित, गुजराती व्याख्या-युक्त, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०८ ई०, पहली द्वात्रिंशिका, १३वाँ पद्य।

३. प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे।
माङ्गल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते
ते ज्ञा या प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते॥
आचार्य समन्तभद्र, स्तुतिविद्या : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, वि० सं० २००७, ११३वाँ पद्य, पृ० १३६।

था कि वे तेजस्वी, सुजन, सुकृती और तेजःपति भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिसे ही बन सके[१]।

भक्ति और अनुराग

आचार्य पूज्यपादने भक्तिकी परिभाषा लिखते हुए कहा है, "अरहंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचनमें भावविशुद्धि युक्त अनुराग ही भक्ति है[२]।" आचार्य सोमदेव[३]का कथन है, "जिन, जिनागम और तप तथा श्रुतमें पारायण आचार्यमें सद्भाव विशुद्धिसे सम्पन्न अनुराग भक्ति कहलाता है।[४] हरिभक्तिरसामृतसिन्धुमें[५] भी लिखा है कि इष्टमें उत्पन्न हुए स्वाभाविक अनुरागको ही भक्ति कहते हैं[५]। महात्मा तुलसीदासने लिखा है, 'कामिहि नारि पिआरि जिमि',[६] अर्थात् जैसे

---

१. सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥
देखिए वही, ११४वाँ पद्य, पृ० १३७।

२. 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः'।
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्रजी सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वि० सं० २०१२, ६।२४ का भाष्य, पृ० ३३९।

३. पं० नाथूरामजी प्रेमीने श्री सोमदेवका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका प्रथम चरण निर्धारित किया है। सोमदेवने यशस्तिलककी रचना चैत्र सुदी १३, शकसंवत् ८८१ [वि० सं० १०१६] में समाप्त की थी।
देखिए, पं० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास : नवीन संस्करण, संशोधित साहित्यमाला, बम्बई, अक्टूबर १९५६, पृ० १७९।

४. जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे।
सद्भावशुद्धिसम्पन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥
Prof. K. K. Handiqui, Yasastilak and Indian Culture, Jain Sanskriti Samrakshaka Sangha, Sholapur, 1949, p. 262, N. 3.

५. इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेत् भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता ॥ ६२ ॥
पूज्यपाद श्री रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : गोस्वामी दामोदरशास्त्री सम्पादित, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० १९८८, पृ० ८७-८८।

६. कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥
महात्मा तुलसीदास, रामचरितमानस : गीताप्रेस, गोरखपुर, पाँचवीं आवृत्ति, मझला साइज़, उत्तरकाण्ड, १३० ख वाँ पद्य, पृ० १००२।

कामीको नारी प्यारी होती है वैसे ही जब भगवान् प्यारा हो जाये तो वह उत्तम भक्ति है। इसीकी व्याख्या करते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालका कथन है, "जब अनुराग स्त्रीविशेषके लिए न रहकर, प्रेम, रूप और तृप्तिकी समष्टि किसी दिव्य तत्त्व या रामके लिए हो जाये तो वही भक्तिको सर्वोत्तम मनोदशा है।"[1]

अनुरागमें प्रेमीका मन सब ओरसे हटकर जैसे प्रेमिकापर केन्द्रित रहता है, वैसे ही भक्तका भगवान्में। अनुरागमें जैसी तल्लीनता और एकनिष्ठता सम्भव है, अन्यत्र नहीं। जैन कवि आनन्दघनने भक्तिपर लिखते हुए कहा है: "जिस प्रकार उदर-भरणके लिए गौयें वनमें जाती हैं, घास चरती हैं, चारों ओर फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछड़ोंमें लगा रहता है, वैसे ही संसारके कामोंको करते हुए भी भक्तका मन भगवान्के चरणोंमें लगा रहता है[2]।" एक-दूसरे स्थानपर उन्होंने महात्मा तुलसीदासकी भाँति कहा कि जिस प्रकार कामीका मन, अन्य सब सुध-बुध खोकर काम-वासनामें ही तृप्त होता है, अन्य बातोंमें उसे रस नहीं मिलता, वैसे ही प्रभु-नाम और स्मरणादि रूप भक्तिमें, भक्तकी अविचल अनन्य निष्ठा होती है[3]। उसका मन सिवा भगवान्के अन्यत्र कहीं भी नहीं जाता।

वीतरागी भगवान्में अनुराग

जैनोंका भगवान् वीतरागी है। वह सब प्रकारके रागोंसे उन्मुक्त होनेका उपदेश देता है। राग कैसा ही हो कर्मोंके आस्रव [आगमन] का कारण है, फिर उस भगवान्में, जो स्वयं वीतरागी है, राग कैसे सम्भव है?

उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्रका कथन है, "पूज्य भगवान् जिनेन्द्रकी

---

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, भक्तिका स्वाद : कल्याण, वर्ष ३२, अंक १ [भक्ति अंक] जनवरी १९५८, गोरखपुर, पृ० १४४।

२. ऐसे जिन चरण चितपद लाऊँ रे मना,
ऐसे अरिहंत के गुण गाऊँ रे मना।
उदर भरण के कारणे रे गउवाँ बन में जाय।
चारौ चरै चहुँदिसि फिरै, वाकी सुरत बछरुआ माँय ॥ १ ॥
महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसंग्रह : अध्यात्मज्ञानप्रसारकमण्डल, बम्बई।

३. जुवारी मन में जुवा रे, कामी के मन काम।
आनन्दघन प्रभु यों कहै, तू ले भगवत को नाम ॥ ४ ॥
देखिए वही।

पूजा करते हुए, अनुरागके कारण जो लेशमात्र पापका उपार्जन होता है, वह बहुपुण्य-राशिमें उसी प्रकार दोषका कारण नहीं बनता, जिस प्रकार कि विषकी एक कणिका, शीत-शिवाम्वुराशिको—ठण्डे कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको—दूषित करनेमें समर्थ नहीं होती।[१]" अर्थात् जिनेन्द्रमें अनुराग करनेसे लेश-मात्र ही सही, पाप तो होता है, किन्तु पुण्य इतना अधिक होता है कि वह रंच-मात्र पाप उसको दूषित करनेकी सामर्थ्य नहीं रखता।

आचार्य कुन्दकुन्दने वीतरागियोंमें अनुराग करनेवालेको सच्चा योगी कहा है।[२] उनका यह भी कथन है कि आचार्य, उपाध्याय और साधुओंमें प्रीति करनेवाला सम्यग्दृष्टी हो जाता है।[३] अर्थात् उनकी दृष्टिमें, वीतरागीमें किया गया अनुराग, यत्किञ्चित् भी पापका कारण नहीं है।

'पर' में होनेवाला राग ही वन्धका हेतु है। वीतरागी परमात्मा 'पर' नहीं, अपितु स्व आत्मा ही है। श्री योगीन्दुका कथन है कि मोक्षमें रहनेवाले भगवान् सिद्ध और देहमें तिष्ठनेवाले आत्मामें कोई भेद नहीं है।[४] आत्मा ही शुद्ध होकर

---

१. पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहु-पुण्यराशौ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य न दूषिका शीत-शिवाम्बुराशौ॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र: पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, जुलाई १९५१, १२।३, पृ० ४२।

२. देवगुरुम्मिय भत्तो साहम्मिय संजुदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोईसो॥
आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड: पाटनी जैन ग्रन्थमाला, मारौठ [मारवाड़], मोक्षपाहुड, ५२वीं गाथा।

३. जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥
आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार: पं० परमेष्ठीदास हिन्दी अनूदित, श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ [मारवाड़], फरवरी १९५३, २३५वीं गाथा, पृ० ३४८।

४. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ॥
श्रीमद् योगीन्दुदेव [छठी शताब्दी ईसवी], परमात्मप्रकाश: श्री ब्रह्मदेवकी संस्कृतवृत्ति और पं० दौलतरामकी हिन्दी-टीका युक्त, श्री आदिनाथ-नेमिनाथ उपाध्याय सम्पादित, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, नयी आवृत्ति, १९३७ ईसवी, २६वाँ दोहा, पृष्ठ ३३।

परमात्मा बन जाता है ।[1] परमानन्द स्वभाववाला भगवान् जिनेन्द्र ही परमात्मा है, और वह ही आत्मा है।[2] अतः जिनेन्द्रमें अनुराग करना अपनी आत्मामें ही प्रेम करना है। आत्म-प्रेमका अर्थ है आत्म-सिद्धि, जिसे मोक्ष कहते हैं। जिनेन्द्रका अनुराग भी मोक्ष देता है। आचार्य पूज्यपादने, आठ कर्मोंका नाश कर, आत्म-स्वभावको साधनेवाले भगवान् सिद्धसे मोक्षकी प्रार्थना की है।[3] उन्होंने ही यह भी लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्रका मुख देखनेसे ही मुक्तिरूपी लक्ष्मीका मुख दिखायी देता है, अन्यथा नहीं ।[4]

इसके अतिरिक्त वह ही राग 'बन्ध' का कारण है, जो सांसारिक स्वार्थसे प्रेरित होकर किया गया हो। निष्काम अनुरागमें कर्मोंको बाँधनेकी शक्ति नहीं होती। वीतरागमें किया गया अनुराग निष्काम ही है, उसमें किसी प्रकारकी कामना सन्निहित नहीं है। 'वीतरागता'पर रीझकर ही भक्तने वीतरागीमें अनुराग किया है। इसके उपलक्ष्यमें यदि वीतरागी भगवान् अपने भक्तमें अनुराग करने लगें, तो भक्तका रीझना ही समाप्त हो जायेगा। वह भगवान्से अपने ऊपर न दया चाहता है, न अनुग्रह और न प्रेम। जैन-भक्तिका ऐसा निष्काम अनुराग, गीताके अतिरिक्त अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता।

---

१. एहु जु अप्पा सो परमप्पा, कम्म-विसेसें जायउ जप्पा।
जामइँ जाणइ अप्पें अप्पा, तामइँ सो जि देउ परमप्पा॥
देखिए वही, १७४वाँ दोहा, पृ० ३१७।

२. जो जिणु केवल-णाणमउ परमाणंद-सहाउ।
सो परमप्पउ परम-परु सो जिय अप्प-सहाउ॥
देखिए वही, १९७वाँ दोहा, पृ० ३२५।

३. सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदयान्साधितात्मस्वभावान्,
वन्दे सिद्धिप्रसिद्ध्यैतदनुपमगुणप्रग्रहाकृष्टितुष्टः॥
आचार्य पूज्यपाद, श्रीसिद्धभक्ति : दशभक्ति : श्रीप्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका युक्त, पं० जिनदास पार्श्वनाथ, मराठी भाषा अनूदित, तात्या गोपाल-शेटे सोलापुर, प्रकाशित १९२१ ईसवी, पहला पद्य, पृष्ठ २७।

४. श्रीमुखालोकनादेव श्रीमुखालोकनं भवेत्।
आलोकनविहीनस्य तत्सुखावाप्तयः कुतः॥ ४॥
आचार्य पूज्यपाद, ईर्यापथशुद्धि :, श्रीदशभक्त्यादिसंग्रह : श्रीसिद्धसेन गोयलीय सम्पादित, अखिलविश्वजैनमिशन, सलाल [साबरकांठा], गुजरात, वीरनिर्वाण सं० २४८१, पृष्ठ ७६।

वीतरागी भगवान्‌का प्रेरणाजन्य कर्त्तृत्व

जैन-भक्त भले ही कुछ न चाहता हो, किन्तु उसे लौकिक और पारलौकिक सभी वैभव, भगवान् जिनकी कृपासे उपलब्ध होते हैं। जैन सिद्धान्तके अनुसार राग-द्वेषसे रहित शुद्धात्मा अर्थात् वीतरागी भगवान् न कर्त्ता हैं और न भोक्ता।[1] फिर जैन-भक्तको उनकी कृपा कैसे प्राप्त हो गयी?

जैन-भक्त भी जैन सिद्धान्तके अनुकूल ही भगवान् जिनेन्द्रको कर्त्ता नहीं मानता, किन्तु उसके निमित्तजन्य कर्त्तृत्वमें विश्वास करता है। यह वह कर्त्तृत्व है जिसका आभास कर्त्ताको भी नहीं होता, और भक्त सब कुछ पा जाता है। आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि वीतरागी भगवान्‌को पूजा-वन्दनासे कोई तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वे सभी रागोंसे रहित हैं। निन्दासे भी उनका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उनमें-से वैर-भाव निकल चुका है। फिर भी उनके पुण्य-गुणोंका स्मरण भक्तके चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है।[2] भगवान्‌को भक्तके इस स्मरणका भान भी नहीं होता, किन्तु उन्हींके गुणोंके स्मरणसे भक्तका चित्त पवित्र बना और पाप-मल गले, अतः वह तो उन्हें कर्त्ता कहता ही है। यह ही निमित्तजन्य कर्त्तृत्व है। इसीका समर्थन करते हुए आचार्य पूज्यपादने एक स्तुतिमें लिखा है। "जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न तथा कल्पवृक्ष आदि अचेतन हैं, तो भी पुण्यवान् पुरुषको उनके पुण्योदयके अनुसार फल देते हैं। उसी प्रकार भगवान् अरहंत या सिद्ध, राग-द्वेषरहित होनेपर भी भक्तोंको उनकी भक्तिके अनुसार फल देते हैं।[3]"

---

१. जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरिया विदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ॥ ८५ ॥
आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, १९५३, २।८५, पृष्ठ १५१।

२. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्त-वैरे।
तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, हिन्दी अनूदित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, जुलाई १९५१, १२।२, पृष्ठ ४१।

३. यथा निश्चेतनाश्चिन्तामणिकल्पमहीरुहाः।
कृतपुण्यानुसारेण तदभीष्टफलप्रदाः ॥ ३ ॥
तथार्हदादयश्चास्तरागद्वेषप्रवृत्तयः।
भक्तभक्त्यनुसारेण स्वर्गमोक्षफलप्रदाः ॥ ४ ॥
दशभक्त्यादिसंग्रह : श्रीसिद्धसेनगोयलीय सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, सलाल, [साबरकांठा] गुजरात, वी० नि० सं० २४८१, पृ० ५९।

इसका तात्पर्य है कि भगवान्, चिन्तामणि या कल्पवृक्षकी भाँति, भक्तिका फल देनेमें अचेतन हैं, किन्तु उनके निमित्तसे होनेवाले पुण्योदयसे, भक्त भक्तिका फल पा जाता है। पुण्य-प्रकृतियाँ चक्रवर्त्ती तककी विभूतिको देनेमें समर्थ हैं।

'पुण्य गुणके स्मरण' से भाव कैसे पवित्र होते हैं ? एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तरमें जैनोंका कर्म-सिद्धान्त लिया जा सकता है। शुभ और अशुभके भेदसे कर्म दो प्रकारके होते हैं। दोनों ही का आस्रव [आगमन] मन, वचन, कायकी क्रियासे होता है। जब यह क्रिया शुभ होती है, तब शुभ कर्म, और जब अशुभ होती है, तब अशुभ कर्म बनते हैं।[1] भगवान् जिनेन्द्रमें अनुराग करना, एक शुभ क्रिया है, अतः उससे पाप-कर्मोंका नाश और शुभ-कर्मोंका उदय होगा ही। आचार्य समन्तभद्रने कहा है, "स्तुतिके समय स्तुत्य चाहे प्रस्तुत रहे या न रहे, फलकी प्राप्ति भी सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधु स्तोताकी स्तुति, कुशल-परिणामकी कारण अवश्य है। वह कुशल-परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्य-विशेष श्रेय फलका दाता है।"[2] यहाँ 'कुशल-परिणाम' का अर्थ 'पुण्य-प्रसाधक' परिणाम है। इसका तात्पर्य है कि भक्तिपूर्वक की गयी स्तुति पुण्य-वर्द्धक कर्मोंको जन्म देती है। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकादिमें भी अज्ञात आचार्यकी एक कारिका उद्धृत है, जिसका अर्थ है, "भगवान्के गुणोंमें अनुराग करनेसे सामर्थ्यवान् अन्तराय कर्म, जो कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यमें बाधा उपस्थित करता है, समाप्त हो जायेगा। शुभ-कर्मोंका आस्रव होनेसे हमारी सभी कामनाएँ पूरी हो जायेंगी[3]।"

---

१. 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।
आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं०' कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी [मथुरा] वीर निर्वाण सं० २४७७, ६।३, पृ० १४०।

२. स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमि-जिनम्॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, हिन्दी अनूदित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, जुलाई १९५१, २१।१, पृष्ठ ७४।

३. नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥
देखिए, स्तुतिविद्या : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, सहारनपुर, वि० सं० २००७, प्रस्तावना, पं० जुगलकिशोर लिखित, पृष्ठ १६।

आचार्य वसुनन्दिने भी अपने श्रावकाचारमें लिखा है, "अरहंत-भक्ति आदि पुण्य-क्रियाओंमें, शुभ-उपयोगके होनेसे पुण्यका आस्रव होता है; और इसके विपरीत अशुभोपयोगसे पापका आस्रव होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है।"[1]

संसार और देवलोकमें ऐसी कोई ऋद्धि-सिद्धि नहीं है, जो पुण्यके द्वारा सुलभ न हो सके। चक्रवर्ती और इन्द्रका पद पुण्य-कर्मसे ही उपलब्ध होता है। किन्तु पुण्य-कर्म मोक्ष देनेमें समर्थ नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दका कथन है कि पुण्य भोग-का निमित्त है, कर्म-क्षयका नहीं।[2] उनकी दृष्टिमें पाप और पुण्य दोनों ही संसारका बन्ध करते हैं।[3] आचार्य योगीन्दुने भी पुण्यको मोक्षका कारण नहीं माना।[4] किन्तु जिनेन्द्रकी स्तुतिसे केवल पुण्य-कर्मका आस्रव ही नहीं होता, अपितु सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न होता है, जो मोक्षका मुख्य हेतु है। भक्तिमें

---

१. अरहन्त भत्तियाइसु सुहोवओगेण आसवइ पुण्णं।
विवरीएण दु पावं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि॥
आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दि श्रावकाचार : पं० हीरालाल सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, अप्रैल १९५२, पृ० ७७, ४०वीं गाथा।

२. सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि च तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥
कुन्दकुन्दाचार्य, अष्टपाहुड : आचार्य श्रुतसागरकी संस्कृत टीका, पं० जय-चन्द छावड़ाकी भाषाटीकासहित, श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारौठ [मारवाड़], भावपाहुड : ८४वीं गाथा।

३. सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥
आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार : श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारौठ [मारवाड़], १९५३, १४६वीं गाथा, पृ० २३०।

४. मं पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति।
जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ-जणंति॥
पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥
श्री योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय-सम्पादित, परमश्रुतप्रभावकमंडल, बम्बई, १९३७ ईस्वी, ५७वाँ और ६०वाँ दोहा, पृ० १९८, २०१।

आराध्यके प्रति जितना अनुराग है, उतनी ही सुश्रद्धा। दोनों ही के समन्वयका नाम भक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्दने जिनेन्द्रकी भक्तिसे मोक्ष माना है। उनका कथन है, "निर्मल सम्यग्दर्शनका धारक जीव है, सो जिन-भक्ति सहित है, यातैं प्रवचन जो मोक्ष-मार्गका निरूपण, ता विषै सोहै है।"[1] एक दूसरे स्थानपर उन्होंने, मुक्तिके पानेमें, विनयको अनिवार्य घोषित किया है,[2] जो कि भक्तिका ही पर्यायवाची है। एक तीसरे स्थानपर तो उन्होंने स्पष्ट ही कहा कि निर्वेद-परम्परा-का चिन्तवन करनेवाले, ध्यानमें रत और सुचरित्र, देव-गुरुओंके भक्त मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[3] आचार्य समन्तभद्रने जिनेन्द्रकी भक्तिसे स्वालय अर्थात् मोक्षमें विराजित होनेकी बात लिखी है।[4] आचार्य पूज्यपादकी दस-भक्तियोंमें, भक्तिसे मोक्ष प्राप्त करनेका वर्णन, स्थान-स्थानपर हुआ है। भगवान् सिद्धकी वन्दना करते हुए उन्होंने लिखा, "बत्तीस दोषरहित कायोत्सर्गको करके, जो अत्यन्त भक्तिसहित, शुद्धात्मस्वरूप भगवान् सिद्धकी वन्दना करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष-को प्राप्त कर लेता है।"[5] शान्ति-भक्तिके एक श्लोकमें, उन्होंने भगवान्

---

१. जह फणिराओ सोहरफणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणे जीवो॥
कुन्दकुन्दाचार्य, अष्टपाहुड : श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारौठ [मारवाड़], भावपाहुड : १४५वीं गाथा।

२. विणयं पंचपयारं पालहिं मण-वयण-कायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति॥
देखिए वही, भावपाहुड : १०४वीं गाथा।

३. देवगुरुम्मियभत्तो साहम्मिय संजुदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोईसो॥
देखिए वही, मोक्षपाहुड : ५२वीं गाथा।

४. यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये
ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये॥
आचार्य समन्तभद्र, स्तुतिविद्या : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, वि. सं० २००७, ११६वाँ पद्य, पृ० १४१।

५. कृत्वा कायोत्सर्गं चतुरष्टदोषविरहितं सुपरिशुद्धम्।
अतिभक्तिसंप्रयुक्तो यो वन्दते स लघु लभते परमसुखम्॥
आचार्य पूज्यपाद, सिद्ध-भक्ति, दशभक्त्यादिसंग्रह : श्री सिद्धसेन जैन गोयलीय सम्पादित, सलाल [साबरकांठा], गुजरात, वी० नि० २४८१, पृ० ११२.

जिनेन्द्रके चरणकमल-युगलकी स्तुतिको एक ऐसी नदी माना है, जिसके शीतल-जलसे कालोदग्रदावानल उपशम हो जाता है, अर्थात् मोक्ष मिलता है।[1] इसी भक्तिके एक दूसरे श्लोकमें भगवान्‌के चरणोंकी स्तुतिसे मोक्ष-सुख पानेकी बात लिखी है।[2] समाधि-भक्तिमें तो उन्होंने स्पष्ट ही कहा है, "भगवान् जिनेन्द्रकी एकाकी भक्ति ही समस्त दुर्गतियोंको दूर करने, पुण्योंको पूर्ण करने और मोक्ष-लक्ष्मीको देनेके लिए समर्थ है।[3] श्री शिवार्यकोटिने भगवती आराधनामें लिखा है, "जैसे अरहन्त भक्ति कूँ कल्याणकारिणी कही; तैसें सिद्ध भगवान्‌में तथा अरहन्तके प्रतिबिम्बमें तथा सर्व जीवनका उपकारक स्याद्वाद रूप जिनेन्द्रका परमागममें तथा आचार्य उपाध्यायनिमें तथा सर्वसाधुनिमें तीव्र-भक्ति है, सो संसारको छेदनेमें समर्थ है।"[4] एक दूसरे स्थानपर उन्होंने कहा है, "एक ही सो जिनेन्द्र भगवान्‌की भक्ति दुर्गति निवारण करने कूँ समर्थ है।"[5]

भक्ति और ज्ञानका सम्बन्ध

भक्ति और ज्ञानमें अविनाभावी सम्बन्ध है। ज्ञानके विना भक्ति अन्ध भक्ति है। आचार्य समन्तभद्र ज्ञानपूर्वक ही भगवान् जिनेन्द्रके भक्त बने थे। उनकी भक्ति-में कुल-परम्परा, रूढिपालन और कृत्रिमता-जैसी कोई बात नहीं थी। वह शुद्ध

---

१. को वा प्रस्खलतीह केन विधिना कालोग्रदावानला-
न्न स्याच्चेत्तव पादपद्मयुगलस्तुत्यापगावारणम् ॥
देखिए वही, शान्तिभक्तिः चौथा श्लोक, पृ० १७६.

२. अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं
सौख्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलस्तुत्यैव संप्राप्यते ॥
देखिए वही, शान्तिभक्तिः, छठा श्लोक, पृ० १७७।

३. एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥
देखिए वही, समाधिभक्तिः आठवाँ श्लोक, पृ० १८५।

४. तह सिद्धचेदिए पवयणे य आयरियसव्वसाधूसु।
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥
श्री शिवार्यकोटि, भगवती आराधना: मुनि श्री अनन्तकीर्त्ति ग्रन्थमाला, अष्टम पुष्प, पं० सदासुखलालजी भाषा-वचनिका सहित, हीराबाग, बम्बई, वि० सं० १९८९, पृ० ३०२, ७५१वीं गाथा।

५. एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेदुं।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धि परंपर सुहाणं ॥
देखिए वही, ७५०वीं गाथा, पृ० ३०२।

विवेकसे चालित थी। दूसरी ओर सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके बिना होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन सुश्रद्धा है, ऐसा ऊपर लिखा जा चुका है। आचार्य कुन्दकुन्दने बोधपाहुडमें लिखा है, "ज्ञान आत्मामें विद्यमान है, किन्तु गुरुकी भक्ति करनेवाला भव्य पुरुष ही उसको प्राप्त कर पाता है[1]।" उन्होंने ही एक-दूसरे स्थानपर भगवान् जिनेन्द्रसे बोधि अर्थात् ज्ञान देनेकी प्रार्थना की है।[2] आचार्य समन्तभद्रने भी स्तुति-विद्यामें लिखा है, "जिस प्रकार पारस पत्थरके स्पर्शसे लोहा स्वर्णरूप हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्की भक्तिसे सामान्यज्ञान केवलज्ञान हो जाता है।"[3] आचार्य पूज्यपादने श्रुतभक्तिमें पाँचों प्रकारके ज्ञान और ज्ञानवानोंकी भक्ति इसीलिए की है कि उससे अतीन्द्रिय निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है।[4] मोक्ष देनेवाला ज्ञान, ज्ञानवानोंकी भक्तिसे मिलता है, किन्तु उसी भक्तिसे जो ज्ञानपूर्वक की गयी हो। इसी भाँति जैनाचार्योंने ज्ञान और भक्तिको एक दूसरेके लिए अनिवार्य बताते हुए समान घोषित किया है।

ज्ञान और भक्ति दोनों ही का लक्ष्य एक है—मोक्ष प्राप्त करना। स्वात्मोपलब्धिका नाम ही मोक्ष है। वह आत्मा, जो अष्टकर्मोंके मलीमससे छूटकर विशुद्ध

---

१. णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स॥
आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, [मारवाड़], बोधपाहुड : २२वीं गाथा।

२. इय घाइकम्म मुक्को अट्ठारहदोसवज्जियो सयलो।
तिहुवण भवण पदीवो देऊ मम उत्तमं बोहिं॥
देखिए वही, भावपाहुड : १५२वीं गाथा।

३. रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः।
वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः॥
आचार्य समन्तभद्र, स्तुतिविद्या : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, वि. सं. २००७, ६०वाँ श्लोक, पृ० ७०।

४. एवमभिष्टुवतो मे ज्ञानानि समस्तलोकचक्षूंषि।
लघु भवताज्ज्ञानर्द्धिं ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम्॥
आचार्य पूज्यपाद, श्रुतभक्ति : दशभक्त्यादि संग्रह : श्री सिद्धसेन गोयलीय सम्पादित, सलाल [साबरकांठा], गुजरात, ३०वाँ श्लोक, पृ० १३७.

हो चुकी है, स्व आत्मा कहलाती है।[1] ज्ञानी उसी आत्मामें, अपने समाधितेजसे अभेदकी स्थापना करता है। भक्त भी आत्माके अभेद तक पहुँचता है, किन्तु पंचपरमेष्ठीके माध्यमसे। भक्त पंचपरमेष्ठीमें अभेद निष्ठाका अनुभव करता है। जैनाचार्योंने पंचपरमेष्ठीको शुद्ध आत्मरूप ही माना है। अतः पंचपरमेष्ठीमें अभेदकी स्थापना ही आत्माके साथ अभेद सम्वन्ध है। दोनों ही को आत्माकी उपलब्धिसे प्राप्त हुए अनिर्वचनीय आनन्दका स्वाद समान रूपसे मिलता है।

शाण्डिल्यने ज्ञानको पराभक्तिके रूपमें ही स्वीकार किया है।[2] आत्मदर्शनके लिए भी आत्मामें वैसी ही अनन्य निष्ठा चाहिए, जैसी भक्तकी भगवान्में होती है। शाण्डिल्यने अखण्ड आत्मरति या आत्मामें लीन होने ही को भक्ति कहा है।[3] जैन तो भगवन्निष्ठा और आत्मनिष्ठाको एक ही मानते हैं, क्योंकि उनके शास्त्रोंमें भगवान् और आत्माका एक ही रूप माना गया है। अतः भक्ति और ज्ञानकी जैसी एकरूपता जैनोंमें घटित होती है, वैसी अन्यत्र नहीं।

मार्ग बाह्यरूप है और दोनोंके मार्गोंमें भेद है। ज्ञानमार्गमें बुद्धि प्रबल होती है और भक्तिमें भाव। ज्ञानमार्ग सूखा और परिश्रम-साध्य है, जब कि भक्तिमें सरसता और सरलता होती है। ज्ञानीको निरवलम्ब रहकर, अपने ही सहारेसे, आत्माके शुद्धस्वरूप तक पहुँचना होता है, भक्तको भगवान्का सहारा है। इस भाँति उनके मार्गोंमें भेद है, किन्तु लक्ष्य, प्रयोजन और फलजन्य स्वादकी दृष्टिसे दोनों समान हैं।

ज्ञान प्राप्त करनेके लिए तप, ध्यान और समाधिकी परीक्षामें उत्तीर्ण होना आवश्यक है। भक्ति एक द्रवणशील पदार्थकी भाँति इन तीनोंमें अभिव्याप्त रहती है। आचार्योंने तपके दो भेद किये हैं—वाह्य तप और आभ्यन्तरिक तप। आभ्य-

---

१. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादि-दोषापहारात्,
योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥
आचार्य पूज्यपाद, सिद्धिभक्ति : प्रथम श्लोक।

२. 'अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम्'
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र : पं० रामनारायण दत्त हिन्दी-अनूदित, गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१६, पृ० ५२।

३. 'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः'
देखिए, नारदप्रोक्तं भक्तिसूत्रम्, श्रीवैजनाथ पण्ड्या हिन्दी-अनूदित, बनारस, १८वाँ सूत्र, पृ० ४।

न्तरिक तप छह प्रकारका होता है,[1] जिनमें विनय, वैय्यावृत्य और ध्यान मुख्य हैं। स्वाध्याय, संयम, गुरु, संघ और सब्रह्मचारियोंमें यथोचित आदर-सम्मानका भाव रखना विनय है।[2] इसको सेवा भी कहते हैं, जो भक्तिका व्युत्पत्त्यर्थ है। विनयके चार भेद हैं जिनमें एक चारित्रविनय भी है। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य वसुनन्दिने लिखा है, "परमागममें पाँच प्रकारका चरित्र और उसके जो अधिकारी या धारण करनेवाले वर्णन किये गये हैं, उनके आदर-सत्कारको चारित्रविनय जानना चाहिए[3]।" चारित्रविनय चारित्र-भक्ति ही है। वैय्यावृत्यका अर्थ भी सेवा ही है और उसका सम्बन्ध भक्तिसे है, ऐसा कहा जा चुका है।

ध्यान और भक्तिमें एकरूपता है। आचार्य उमास्वातिने 'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्' कहा है। इस सूत्रपर आचार्य पूज्यपादने लिखा है, "नानार्थावलम्बनेन चिन्तापरिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्र-चिन्तानिरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तं भवति[4]।" भक्तको भी अपना मन सब ओरसे हटाकर भगवान्में केन्द्रित करना पड़ता है। ध्यानके द्वारा मनको आत्मामें एकाग्र करना होता है और भक्तिके द्वारा इष्टदेवमें। किन्तु जैनोंके इष्टदेव पंचपरमेष्ठी और आत्मस्वरूपमें कुछ भी अन्तर नहीं है। तो फिर भक्ति और ध्यानमें ही कैसे हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टिमें पंचपरमेष्ठीका चिन्तवन, आत्माका ही चिन्तवन है[5]। आचार्य योगीन्दुने भी लिखा है, "जो

---

1. 'प्रायश्चित्त-विनय-वैय्यावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्'।
   उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : ९।२०।
2. स्वाध्याये संयमे संघे गुरौ सब्रह्मचारिणि।
   यथौचित्यं कृतात्मानो विनयं प्राहुरादरम्॥
   K. K. Handiqui, Yasastilak and Indian culture, Jain sanskriti samrakshaka sangha, Sholapur, 1949, P. 262, No I.
3. पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स।
   जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो॥
   आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार : पं० हीरालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२, ३२३वीं गाथा, पृ० ११४।
4. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि: पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५५, पृ० ४४४।
5. अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
   ते वि हु चिट्ठहि आधें तम्हा आदा हु मे सरणं॥
   अष्टपाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, गाथा १०४वीं।

जिन भगवान् है, वह ही आत्मा है, यह ही सिद्धान्तका सार समझो[१]।"

श्री देवसेनने[२] 'भावसंग्रह'में, आधारकी दृष्टिसे ध्यानके दो भेद किये हैं—सालम्ब ध्यान और निरवलम्ब ध्यान। सालम्ब ध्यान वह ही है, जिसमें मनको पंचपरमेष्ठीपर टिकाना होता है[३]। वसुनन्दि-श्रावकाचारमें ध्यानके चार भेद माने गये हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, तथा चारों ही को भावपूजा कहा गया है[४]। पूजा भक्तिका मुख्य अंग है। उसके दो भेद हैं—भावपूजा और द्रव्यपूजा। भावपूजा, परम भक्तिके साथ जिनेन्द्र भगवान्‌के अनन्त-चतुष्टय आदि गुणोंपर मनको केन्द्रित करना है[५]। इस भाँति आचार्य वसुनन्दिने ध्यान और भावपूजाको एक मानकर, ध्यान और भक्तिकी ही एकता सिद्ध की है।

सामायिक एक ध्यान ही है। आचार्य समन्तभद्रने मनको संसारसे हटाकर आत्मस्वरूपपर केन्द्रित करनेको सामायिक कहा है[६]। ध्यान होनेसे सामायिक

---

१. जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहँ सारु।
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, द्वितीय भाग, दोहा २१ वाँ, पृ० ३७५।

२. भावसंग्रहके कर्त्ता देवसेन, दर्शनसारके कर्त्ता आचार्य देवसेनसे पृथक् थे। वे विमलसेन गणिके शिष्य कहे जाते हैं। उनका दूसरा ग्रन्थ सुलोयणाचरिउ है।
देखिए, पं० परमानन्द जैन शास्त्रीका लेख, 'सुलोचनाचरित्र और देवसेन,' अनेकान्त : वर्ष ७, किरण ११-१२, पृ० १७६।

३. तम्हा सो सालंबं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।
पंचपरमेट्ठीरूवं अहवा मन्तक्खरं तेसिं॥
श्री देवसेन, भावसंग्रह : माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, ३८८वाँ दोहा, पृ० ८७।

४. पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं अहवा।
जं झाइज्जइ झाणं भावमहं तं विणिद्दिट्ठं॥
वसुनन्दिश्रावकाचार : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, गाथा ४५८वीं।

५. काऊणाणंत चउट्ठयाइ गुणकित्तणं जिणाईणं।
जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु॥
देखिए वही, ४५६वीं गाथा, पृ० १३१।

६. अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके॥
समीचीनधर्मशास्त्र : वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, ५।१४, पृ० १४१।

भी भक्ति हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके चरित्र पाहुडकी २६वीं गाथाका अनुवाद करते हुए पं० जयचन्द छावड़ाने लिखा है, "एकान्त स्थानमें बैठकर अपने आत्मिक स्वरूपका चिन्तवन करना, वा पंचपरमेष्ठीका भक्ति-पाठ पढ़ना सामायिक है[1]।" आचार्य सोमदेवने भी यशस्तिलकमें आप्तसेवाके लिए स्नपन, पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान और श्रुतस्तवको सामायिक कहा है[2]। आचार्य श्रुतसागर सूरिने एकाग्र मनसे देववन्दनाको सामायिक मानकर भक्तिकी ही प्रतिष्ठा की है[3]। आचार्य अमितगतिका सामायिकपाठ तो भक्ति-पाठ ही है।[4]

जैनाचार्योंने समाधिको उत्कृष्ट ध्यानके अर्थमें लिया है।[5] उनके अनुसार-चित्तका सम्यक् प्रकारसे ध्येयमें स्थित हो जाना ही समाधि है।[6] समाधिमें निर्विकल्पक अवस्था तक पहुँचनेके पूर्व मनको पंचपरमेष्ठीपर टिकाना अनिवार्य है।[7]

---

१. अष्टपाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, चरित्रपाहुड : २६वीं गाथाका हिन्दी अनुवाद।

२. आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम्।
नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे॥
स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः।
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम्॥
आचार्य सोमदेव, यशस्तिलकचम्पू : दूसरा भाग, काव्यमाला ७०; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१ ई०, आठवाँ आश्वास।

३. "देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमता चिन्तनं सामायिकम् इत्यर्थः।" तत्त्वार्थवृत्ति : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ७।२१, पृ० २४५।

४. आचार्य अमितगतिका समय वि० सं० १०५० माना जाता है। उनके सामायिक पाठमें अनेक सरस स्थल हैं, जिनमें एक इस भाँति है—

यः स्मर्य्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः
यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१२॥

५. "समाधिना शुक्लध्यानेन केवलज्ञानलक्षणेन राजते शोभते इति समाधिराट्" पं० आशाधर, सहस्रनाम : ज्ञानपीठ, काशी, ६।७४, स्वोपज्ञवृत्ति : पृ० ९१।

६. 'चेतसश्च समाधानं समाधिरिति गद्यते'
अनेकार्थनिघण्टु : ज्ञानपीठ, काशी, १२४ वाँ पद्य, पृ० १०५।

७. देखिए, परमात्मप्रकाश : बम्बई, १६३वीं गाथाका हिन्दी भाष्य, पृ० ३०६।

भक्त भी अपना मन पंचपरमेष्ठीमें तल्लीन करता है, अतः दोनों अवस्थाओंमें कोई अन्तर नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दने प्राकृतमें और आचार्य पूज्यपादने संस्कृतमें समाधि भक्तिकी रचना की है।[1] इस भक्तिमें समाधि, समाधिस्थों और समाधि स्थलोंके प्रति सेवा, श्रद्धा और आदर-सत्कारका भाव प्रकट किया गया है।

---

१. दोनों ही की भक्तियाँ, दशभक्ति : शोलापुर और दशभक्त्यादिसंग्रह : सलाल [साबरकाँठा], में प्रकाशित हो चुकी हैं।

: २ :

जैन-भक्तिके अंग

१. पूजा-विधान

'पूजा'की व्युत्पत्ति और परिभाषा

भाषा-विज्ञानके प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने 'पूजा' शब्दकी द्राविड़ उत्पत्ति स्वीकार करते हुए लिखा है, "पूजामें पुष्पोंका चढ़ाया जाना अत्यावश्यक है, यह पुष्पकर्म कहलाता है। इसी आधारपर पूजाकी व्याख्या करते हुए 'मार्क कालिन्स'ने उसे द्राविड़ शब्द घोषित किया है, जो पू और गे से मिलकर बना है। 'पू' का अर्थ है पुष्प और 'गे' का तात्पर्य है करना, इस भाँति 'पूगे'का मिला हुआ अर्थ निकला 'पुष्पकर्म', अर्थात् फूलोंका चढ़ाना। इसी 'पूगे' से पूजा शब्द बना है। जार्ल कार्पेण्टियरके अनुसार 'पूजा' शब्द 'पुसु' या 'पुचु' द्राविड़ धातुसे बना है, जिसका अर्थ है चुपड़ना, अर्थात् चन्दन या सिन्दूरसे पोतना अथवा रुधिरसे रंगना। पूर्व समयमें पूजाका यह ही ढंग था।"[1]

अभिधानराजेन्द्र कोशमें 'पूजा' शब्द 'पूज' धातुसे माना गया है। यह 'पूज' ही 'गुरोश्च हलः' के द्वारा दीर्घ होकर पूजाका रूप धारण कर लेती है। 'पूज'

---

१. In Puja flowers are essential, it was so to say, Pushpakarma. Now on this basis the word Puja of sanskrit has been explained by Mark-collins as a Dravidian word–pu, means flower and the Dravidian root cey–gey meaning 'to do' giving a compound form in primitive Dravidian of Vedic-Times. Pu–gey = pushpakarma, "The flower ritual," whence sanskrit puja.
Jarl charpentier suggested another derivation from a Dravidian-root pusu or pucu 'to smear,' anountment with sandal–paste or vermillion or blood-being, according to this view, the basic element in the puja rite.
Indo-Asian culture. से उद्धृत।

धातु पुष्पादिके द्वारा अर्चन करनेमें, गन्ध, माला, वस्त्र, पात्र, अन्न और पानादिके द्वारा सत्कारके अर्थमें, स्तवादिके द्वारा सपर्या करनेमें और पुष्प-फल, आहार तथा वस्त्रादिके द्वारा उपचार करनेमें आती है।[१]

'पाइअ-सद्द-महण्णव' में पूजाको 'पूआ' कहा गया है, जिसका अर्थ सेवा-सत्कार करना होता है।[२]

जैन-शास्त्रोंमें सेवा-सत्कारको 'वैय्यावृत्त्य' कहा जाता है। आचार्य समन्तभद्र [वि० द्वितीय शताब्दी] ने पूजाको वैय्यावृत्त्य माना है। उन्होंने कहा, "देवाधिदेव जिनेन्द्रके चरणोंकी परिचर्या अर्थात् सेवा करना ही पूजा है।[३]" उनकी यह सेवा जल, चन्दन और अक्षतादि रूप न होकर 'गुणोंके अनुसरण' तथा 'प्रणामाञ्जलि' तक ही सीमित थी।[४] किन्तु छठी शताब्दीके विद्वान् यतिवृषभने पूजामें जल, गन्ध, तन्दुल, उत्तम भक्ष्य, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंको भी शामिल किया है।[५]

बारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए आचार्य वसुनन्दिके श्रावकाचारमें भी अष्ट मङ्गल-द्रव्योंका उल्लेख हुआ है। उन्होंने कहा, "आठ प्रकारके मङ्गल-द्रव्य और अनेक प्रकारके पूजाके उपकरण-द्रव्य तथा धूप-दहन आदि जिन-पूजनके लिए वितरण करें।[६]" पूजा-विधानकी परिभाषा बतलाते हुए उन्होंने लिखा, "अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं तथा शास्त्रकी जो वैभवसे नाना प्रकारकी

---

१. अभिधानराजेन्द्र कोश : भाग ५, पृ० १०७३।

२. पाइअ-सद्द-महण्णव : पं० हरिगोविन्ददास त्रिकमचन्द्र सेठ सम्पादित, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, सन् १९२८ ई०, भाग ३, पृ० ७५५।

३. देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःख-निर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥
आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, वीरसेवामन्दिर दिल्ली, वि० सं० २०१२, ५।२९, पृ० १५५।

४. देखिए वही, ५।२९ की व्याख्या, पं० जुगलकिशोर कृत, पृ० १५७।

५. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : भाग २, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् १९४३ ई०, ७।४९, पृ० ६६४।

६. अट्ठविहमंगलाणि य बहुविहपूजोवयरणदव्वाणि।
धूवदहणाइ तहा जिणपूयत्थं वितीरिज्जा॥
आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दि-श्रावकाचार : पं० हीरालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, अप्रैल १९५२, ४४२वीं गाथा, पृ० १२९।

पूजा की जाती है, उसे पूजन-विधान समझना चाहिए।''[1]

पूजाके भेद

मुख्यरूपसे पूजाके दो भेद हैं—द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा। किसी-न-किसी द्रव्यसे आराध्यके मूर्ति-बिम्ब आदिकी पूजा करना द्रव्य-पूजा है, और शुद्ध भावसे क्षायोपशमिकादि भावके प्रतीक जिनेन्द्रको नमस्कार करना, उनका ध्यान लगाना अथवा उनके गुणोंका कीर्त्तन करना भाव-पूजा है। भेद इतना ही है कि भाव-पूजामें भगवान्‌को मनमें स्थापित करना होता है जब कि द्रव्य-पूजामें भगवान्‌का कोई-न-कोई चिह्न द्रव्य रूपमें सामने उपस्थित रहता है। मनमें निराकार भगवान्‌को उतारना कठिन काम है, इसलिए द्रव्य-पूजा गृहस्थोंके लिए और भाव-पूजा साधुओंके लिए निर्धारित की गयी है।[2] जहाँतक पूजकके भावोंका सम्बन्ध है, दोनोंमें भेद नहीं है।

आचार्य वसुनन्दिने पूजाके छह भेद स्वीकार किये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[3] अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें पुष्प क्षेपण करना नाम-पूजा है। कीर्तन इसीमें शामिल है। जिनेन्द्र, आचार्य और गुरुजन आदिके अभावमें उनकी तदाकार अथवा अतदाकार रूपसे स्थापना कर जो पूजा की जाती है, वह स्थापना-पूजा है। भाव-पूजाका आलम्बन अतदाकारकी स्थापना ही है। जल, गन्ध आदि अष्ट द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य-पूजा जानना चाहिए। भगवान् जिनेन्द्रके पंचकल्याणक और पंचपरमेष्ठियोंकी स्मृतिसे चिह्नित स्थानोंकी पूजा करना क्षेत्र-पूजा है। जैन महापुरुषोंकी तिथियोंपर उत्सव मनाना, काल-पूजा है। परम भक्तिके साथ जिनेन्द्र भगवान्‌के अनन्तचतुष्टय आदि गुणोंका कीर्तन, ध्यान, जप और स्तवन भाव-पूजा कही जाती है।[4]

---

१. जिण-सिद्ध-सूरि-पाठय-साहूणं जं सुयस्स विहवेण।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाणं॥
देखिए वही : ३८०वीं गाथा, पृ० १२१।

२. अभिधानराजेन्द्र कोश : भाग ३, पृ० १२१७।

३. णामट्ठवणा-दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं॥
वसुनन्दि-श्रावकाचार : पं० हीरालाल सम्पादित, काशी, ३८१वीं गाथा, पृ० १२१।

४. देखिए वही : ३८२-९२ गाथाएँ, पृ० १२१-२२।

बृहत्‌जैन शब्दार्णवमें पूजनके पाँच भेद दिये हुए हैं—नित्य, अष्टाह्निका, ऐन्द्रध्वज, चतुर्मुख या सर्वतोभद्र और कल्पद्रुम। "नित्य-पूजन वह है जो प्रतिदिन किया जाये। अष्टाह्निकामें—कार्त्तिक, फाल्गुन और आषाढ़के अन्तिम आठ दिनोंमें नन्दीश्वरके ५२ चैत्यालयोंकी पूजा की जाती है। ऐन्द्रध्वज—इन्द्रादि-द्वारा, चतुर्मुख या सर्वतोभद्र—मुकुट-बद्ध राजाओं-द्वारा होती है।[1]"

चेइयवंदणमहाभासमें पूजाके तीन भेद दिये गये हैं—अङ्ग-पूजा, आमिष-पूजा और स्तुति-पूजा।[2] "वस्त्राभरण-विलेपन-सुगन्धिगन्धैर्धूपपुष्पैः", जिनाङ्ग पूजा की जाती है। इसमें गीत-वस्त्रादिका भी आयोजन रहता है।[3] आमिष-पूजाका भाष्य करते हुए लिखा है, "यः पञ्चवर्णस्वस्तिक-बहुविधफल-भक्ष्यदीपनादिः। उपहारो जिनपुरतः क्रियते साऽऽमिषसपर्या।" गन्धर्वनाट्य भी इसीमें शामिल है।[4] भगवान् जिनेन्द्रके सम्मुख बैठकर यथाशक्ति वृत्तोंका उच्चारण करना ही स्तुति-पूजा है।[5] अभिधानराजेन्द्र कोशमें पात्रकी दृष्टिसे पूजाके तीन भेद माने गये हैं—देव, शास्त्र और गुरु। शरीर, वस्त्र और व्यवहारकी शुद्धि तथा हृदयकी श्रद्धासे समन्वित होकर पुष्प, पक्वान्न, फलादि, वस्त्र और शोभन-स्तोत्रोंसे देवका पूजन करना चाहिए।[6] आचार्य सोमदेवने यशस्तिलक चम्पूमें लिखा है, "देव-सेवामें स्नपन, पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान और श्रुतस्तव, छह क्रियाएँ सद् गृहस्थको करनी ही चाहिए।[7] शास्त्र-पूजनकी बात श्रुत-भक्तिमें लिखी जा चुकी है। देवके साथ-साथ गुरुशब्द भी जुड़ा हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्दके मोक्षपाहुडमें दोनों ही की भक्तिका महत्त्व बतलाया गया है। गुरुका भक्त योगको ठीक ढंगसे साध पाता है और मोक्ष-मार्गको प्राप्त कर लेता है।[8] किन्तु उसका अधिकाधिक

---

१. बृहत् जैनशब्दार्णव : द्वितीय खण्ड, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जैन सम्पादित, दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ५४२।

२. श्री शान्तिसूरि, चेइयवंदण महाभासम् : श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७७, १९९वीं गाथा, पृ० ३६।

३. देखिए वही : गाथा २००-२, पृ० ३६।

४. देखिए वही : गाथा, २०४-५, पृ० ३७।

५. देखिए वही : गाथा, २०७, पृ० ३७।

६. पुष्पैश्च बलिना चैव, वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम्॥
अभिधानराजेन्द्र कोश : भाग ५, ११६वाँ श्लोक, पृ० १०७५।

७. आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड : ८२वीं गाथा, पृ० १३२।

प्रयोग जैन अपभ्रंशके रहस्यवादी कवियोंने ही किया है। जोइन्दुके परमात्म-प्रकाश और योगसार, श्री लक्ष्मीचन्दके सावयधम्मदोहा, मुनिरामसिंह और महचन्द के दोहा-पाहुड, जिनदत्तसूरिके उपदेश रसायनरास और आनन्दतिलकके 'आणंदा' में गुरुकी ही प्रबलता है।

विविध आचार्योंकी दृष्टिमें जैन-पूजा

ऊपर आचार्य कुन्दकुन्द [पहली शताब्दी] के अष्टपाहुड, आचार्य समन्तभद्र [दूसरी शताब्दी] के समीचीन धर्मशास्त्र, आचार्य यतिवृषभ [छठी शताब्दी] की तियोयपण्णत्तिमें पूजाका निरूपण मिलता है। किन्तु आचार्य समन्तभद्रसे पूर्व किसीने भी पूजाको श्रावक-व्रतोंमें नहीं कहा था। आचार्य समन्तभद्रने उसकी गणना शिक्षाव्रतके चौथे भेद वैय्यावृत्यमें की है।[1]

आचार्य देवसेन [१०वीं शताब्दी] के 'भाव-संग्रह' में पाँचवें गुणस्थानका वर्णन करते हुए श्रावक धर्मका विवेचन किया गया है। उन्होंने बताया कि गृहस्थ-के लिए निरालम्ब ध्यान सम्भव नहीं, अतः उसको सालम्ब ध्यान करना चाहिए। सालम्ब ध्यानमें व्रत, उपवास और शीलके साथ-साथ ही पूजा भी शामिल है। उन्होंने देव-पूजाको मोक्षका कारण कहा है।[2] उनका कथन है कि पूजा अभिषेक-पूर्वक ही करनी चाहिए। सालम्ब ध्यानके साथ पूजाका सम्बन्ध जोड़कर उन्होंने आचार्य सोमदेवकी सामायिकी पूजाको स्वीकार कर लिया है, ऐसा स्पष्ट ही है।

आचार्य सोमदेव [११वीं शताब्दी] ने पूजाको सामायिक शिक्षा-व्रतमें स्थान दिया है। तीनों सन्ध्याओंमें गृहकार्योंसे निर्द्वन्द्व होकर, अपने उपास्यदेवकी उपासना करना ही सामायिक शिक्षाव्रत है। आचार्य सोमदेवका स्पष्ट मत है कि पूजा सामायिक ही है, और वह तीनों समय करनी चाहिए। उन्होंने कहा, "हे देव! मेरा प्रातःकालका समय तेरे चरणारविन्दके पूजन-द्वारा, मध्याह्न काल मुनिजनोंके

---

१. आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, वीरसेवामन्दिर दिल्ली, वि० सं० २०१२, ५।२९, पृ० १५५।

२. तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवइ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४॥
पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देवपूया य।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाए ॥ ४२५ ॥
आचार्य देवसेन, भावसंग्रह : पं० पन्नालाल सोनी सम्पादित, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२१ ई०।

सम्मानके द्वारा और सायंतन समय तेरे आचरणके कीर्त्तन-द्वारा व्यतीत होवे।"[१] हो सकता है कि आचार्य समन्तभद्रके 'त्रिसन्ध्यमभिवन्दी' का ही यह विस्तृत रूप हो।

आचार्य वसुनन्दि [१२वीं शताब्दी] ने अपने प्रसिद्ध श्रावकाचारमें पूजा और प्रतिष्ठाका वर्णन ११४ गाथाओंमें किया है। उन्होंने चार प्रकारके ध्यानोंको भाव-पूजामें शामिल कर लिया है।[२] इस भाँति आचार्य वसुनन्दिने यद्यपि द्रव्य-पूजनकी भी बात कही है, किन्तु भाव-पूजनमें ध्यानोंको शामिल कर, आचार्य समन्तभद्रकी सामायिकवाली पूजाका ही अनुकरण किया है। चेइयवंदण महाभासंके पृष्ठ ३६से ३८ तक पूजनके भेद और पूजन-विधानका विशद निरूपण हुआ है।

पूजाके ग्रन्थ

श्री जिनरत्न-कोशके पृष्ठ २५५पर पूजासे सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका संग्रह है। उनमें हरिभद्रसूरिकी पूजा-पञ्चाशिका, भद्रबाहुका पूजा-प्रकरण, आचार्य नेमिचन्द्रका पूजा-विधान, आचार्य जिनप्रभका पूजा-प्रकरण और उमास्वाति वाचकका पूजाविधि प्रकरण बहुत ही पुराने ग्रन्थ हैं। जयपुरके दिगम्बर जैन लूणकरजीके मन्दिर और दिगम्बर जैन तेरहपन्थियोंके मन्दिरमें पूजासम्बन्धी विपुल सामग्री है। वह राजस्थानके जैन-शास्त्र भण्डारोंकी ग्रन्थसूची, द्वितीय भागमें क्रमशः पृष्ठ ५५-७०, तथा ३०७-३१९ पर निबद्ध है। पाटण और आमेरके शास्त्रभण्डारोंमें भी पूजासम्बन्धी अनेक ग्रन्थ हैं, ऐसा उनकी प्रकाशित सूचियोंसे स्पष्ट ही है।

२. स्तुति-स्तोत्र

जैन स्तुतिकी परिभाषा

आराध्यके गुणोंकी प्रशंसा करना स्तुति है। लोकमें अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसाको ही स्तुति कहते हैं, किन्तु यह परिभाषा भगवान्‌पर घटित नहीं होती।

---

१. प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन।
सायंतनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्त्तनकामितेन॥
देखिए वसुनन्दि-श्रावकाचार : भूमिकामें 'श्रावकधर्मका विकास' पृ० ४९।

२. पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं अहवा।
जं झाइज्जइ झाणं भावमहं तं विणिद्दिट्ठं ॥४५८॥
वसुनन्दि-श्रावकाचार : पृ० १३१।

भगवान्‌में अनन्त गुण हैं। उनमें-से एकका वर्णन हो पाना ही अशक्य है, फिर अतिशयोक्ति कैसे हो सकती है। आचार्य समन्तभद्रने कहा है, "थोड़े गुणोंका उल्लंघन करके बहुत्व-कथावाली स्तुति भगवान् जिनेन्द्रपर नहीं घटती, क्योंकि उनमें गुण बहुत हैं, जिनको कहना-भर भी सम्भव नहीं है।[1]" इससे स्पष्ट है कि अपनी लघुता दिखाते हुए भगवान्‌की प्रशंसा करना स्तुति है।

जैन-स्तुतिका अभिप्राय

यद्यपि जैन भगवान्, सामन्तवादी राजाकी भाँति, स्तुतियोंसे प्रसन्न होकर उपहार नहीं बाँटता, उसकी वीतरागता उसे ऐसा करनेसे रोकती है, फिर भी जैन-भक्तकी सभी मनोकामनाएँ पूरी हो जाती हैं। इस रहस्यको सुलझाते हुए आचार्य समन्तभद्रने कहा है, "भगवान् जिनेन्द्रके गुणोंका सतत स्मरण और आराध्यमय हो जानेकी चाह, हृदयमें पवित्रताका संचार करती है और उस पवित्रतासे पुण्य-प्रसाधक परिणाम बढ़ते हैं।[2]" पुण्य प्रकृतियाँ चक्रवर्ती तककी विभूति देनेमें समर्थ हैं, फिर भक्तकी कामनाएँ कितनी हैं। वीतरागी भगवान् भले ही कुछ न देता हो, किन्तु उसके सान्निध्यमें वह प्रेरक शक्ति है, जिससे भक्त स्वयं सब कुछ पा लेता है।

स्तुतिको ही स्तोत्र कहते हैं, दोनोंमें कोई मौलिक भेद नहीं है।

पूजा और स्तोत्रमें भेद

पूजा और स्तोत्रमें शैलीगत भेद है, भावकी दृष्टिसे दोनों समान हैं, अतः उनका परिणाम भी समान ही होना चाहिए, किन्तु कुछ लोग परिणामकी दृष्टिसे दोनोंमें महदन्तर स्वीकार करते हैं, वे 'पूजाकोटिसमं स्तोत्रं' मानते हैं। इसका तात्पर्य है कि एक करोड़ बार पूजा करनेसे जो फल मिलता है, वह एक बारके ही स्तोत्र-पाठसे उपलब्ध हो जाता है। यहाँ कहनेवालेका पूजासे तात्पर्य केवल द्रव्य-पूजासे है, क्योंकि भाव-पूजामें तो स्तोत्र भी शामिल है। "पूजकका ध्यान पूजनकी बाह्य-सामग्री स्वच्छता आदिपर ही रहता है, जब कि स्तुति करनेवाले

---

१. गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथास्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, वीर-सेवामन्दिर सरसावा, वि० सं० २००८, १८।१, पृ० ६१।

२. तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।
देखिए वही : १२।२, पृ० ४१।

भक्तका ध्यान एकमात्र स्तुत्य व्यक्तिके विशिष्ट गुणोंपर टिकता है। वह एकाग्र-चित्त होकर अपने स्तुत्यके एक-एक गुणको मनोहर शब्दोंके द्वारा व्यक्त करनेमें निमग्न रहता है।[१]"

प्राचीन जैन स्तोत्र

जैन-भक्त बहुत प्राचीन समयसे स्तुति-स्तोत्रोंकी रचना करते रहे हैं, उनमें कतिपय इस प्रकार हैं—

प्राकृत-स्तोत्रोंमें गौतम गणधरका 'जयतिहुअण स्तोत्त' सबसे अधिक प्राचीन है।[२] भगवान् महावीरके समवशरणमें प्रविष्ट होते ही गौतमने इसी स्तोत्रसे उनको नमस्कार किया था। आचार्य कुन्दकुन्द, जो कि विक्रमकी पहली शताब्दीमें हुए हैं,[३] 'तित्थयर-शुदि' की रचना की थी। इसमें आठ गाथाएँ हैं, जिनमें प्रथमसे लेकर चौबीसवें तीर्थंकर तककी स्तुति की गयी है।[४] इसे ही श्वेताम्बर समाजमें 'लोगस्स सुत्त' कहते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्दने सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र-भक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति और निर्वाणभक्तिका भी निर्माण किया था। ये एक प्रकारसे स्तोत्र ही हैं। मानतुंगसूरिका 'भयहरस्तोत्त' भी प्राकृत भाषा-में है।[५] इसमें २१ पद्य हैं, जो भगवान् पार्श्वनाथकी भक्तिमें समर्पित हुए हैं। मुनि चतुरविजयने मानतुंगको हर्षका समकालीन अर्थात् वि० की सातवीं शताब्दी-का माना है।[६] डॉ० विण्टरनित्स उनको ईसाकी तीसरी शतीका मानते हैं।[७]

---

१. देखिए, पं० हीरालाल जैन, 'पूजा, स्तोत्र, जप, ध्यान और लय', अने-कान्त, वर्ष १४, किरण ७, पृष्ठ १९४।

२. जयतिहुअण-स्तोत्तका प्रकाशन 'जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलामसे हुआ है।

३. पुरातन जैन वाक्य सूची : पं० जुगलकिशोर मुख़्तार सम्पादित, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, प्रस्तावना, पृ० १२।

४. यह स्तुति, 'श्री प्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीकासहित दशभक्ति', पं० जिनदास पार्श्वनाथ अनूदित, मराठी भाषामें, शोलापुर, पृ० १७-१८, पर प्रकाशित हुई है।

५. भयहरस्तोत्त : जैन स्तोत्र संदोह : द्वितीय भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, पृ० १४-२९, पर प्रकाशित हुआ है।

६. देखिए वही : प्रस्तावना, पृ० १३।

७. Dr. Winternitz, History of Indian Literature, Val II, P. 549.

'उवसग्गहरस्तोत्त' भद्रबाहुकी प्रसिद्ध कृति है। इसमें केवल पाँच पद्य हैं किन्तु इतने सशक्त कि उनपर कई टीकाएँ रची गयीं।[1] ये भद्रबाहु, श्रुतकेवली भद्रबाहु-से भिन्न थे, ऐसा इनके द्वारा रची गयी अनेक निर्युक्तियोंसे सिद्ध है।[2] इनका समय छठी शताब्दी (वि० सं०) का मध्यकाल निश्चित ही है। उन्होंने 'पञ्च-सिद्धान्तिका'के अन्तमें स्वयं ही अपना समय शक संवत् ४२७ (वि० सं० ५६२) लिखा है।[3] महाकवि धनपालकी 'ऋषभपंचाशिका' में ५० पद्य हैं, जिनमें-से प्रारम्भिक २० में भगवान् ऋषभदेवको जीवन घटनाएँ हैं, और अवशिष्ट ३० में भगवान्की प्रशंसा है।[4] इन्हींकी लिखी हुई 'वीरथुई' भी है जो देवचन्द लाल भाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थमालाकी ओरसे सन् १९३३ में बम्बईसे प्रकाशित हुई थी। धनपाल विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं।[5] ग्यारहवीं शताब्दीमें ही अभयदेवसूरिने महावीरस्तोत्रकी रचना की, जिसमें २२ पद्य हैं।[6] बारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए जिनवल्लभसूरिने 'पंचकल्याणकस्तोत्र'

---

१. पार्श्वदेवगणि (१२वीं शताब्दी-अन्त) की लघुवृत्तिके साथ यह स्तोत्त, जैनस्तोत्रसन्दोह : द्वितीय भाग, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदा-बाद, पृष्ठ १-१३ तकपर प्रकाशित हो चुका है।
इसके अतिरिक्त जिनप्रभसूरि, सिद्धचन्द्रगणि और हर्षकीर्त्तिसूरि (१४वीं शताब्दी वि० सं०) की व्याख्याओं-सहित देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमालासे सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ है।

२. देखिए दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति (प्रथम पद्य), उत्तराध्ययन निर्युक्ति (२३३वाँ पद्य) और आवश्यक आदि ग्रन्थोंपर लिखी गयीं अनेक निर्यु-क्तियाँ। इनमें श्रुतकेवली भद्रबाहुको 'प्राचीन' विशेषणसे युक्त कर स्मरण किया गया है और श्रुतकेवलीके बाद हुए आचार्योंका भी नामोल्लेख है।

३. सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये॥
पञ्चसिद्धान्तिका : ८वाँ पद्य।

४. ऋषभपंचाशिका स्तोत्त : काव्यमाला, भाग ७, पं० दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण सम्पादित, बम्बई, १९२६, पृ० १२४-३१ पर प्रकाशित हो चुका है।
और
यह स्तोत्र, जैन-साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अंक ३, में भी प्रकाशित हुआ है।

५. जैन-साहित्य और इतिहास : पं० नाथूराम प्रेमी, नवीन संस्करण, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, अक्टूबर १९५६, पृ० ४०९।

६. जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, पृ० १९७-९९।

बनाया था, जिसमें २६ पद्य हैं। जिनप्रभसूरिने भी चतुर्विंशति जिनकल्याण-कल्पऔर अम्विकादेवीकल्प प्राकृतमें ही रचे हैं।[2] सूरिजी चौदहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध कवि थे।[3]

संस्कृत भाषामें जैन स्तुति-स्तोत्रोंकी बहुत अधिक रचना हुई। आचार्य समन्त-भद्र [विक्रमकी दूसरी शताब्दी] ने स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुति-विद्या स्तोत्र बनाये,[4] जिनमें चौवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है। सिद्धसेन दिवाकर [विक्रमकी-पाँचवीं शताब्दी] ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र[5] और कुछ द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की थी। द्वात्रिंशिका स्तुतिको कहते हैं[6]। पं० जुगलकिशोर मुख्तारने उनकी रची २१ द्वात्रिंशिकाओंकी बात कही है, जिनमें-से केवल छह भगवत् विषयक स्तुतिसे सम्वन्धित हैं।[7] आचार्य देवनन्दि पूज्यपादने सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधि-भक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, और चैत्यभक्तिका संस्कृतमें निर्माण किया था। इन्हें १२ स्तोत्र ही कहना चाहिए। इनका प्रकाशन 'दशभक्तिः' नामकी पुस्तकमें हो चुका है। विद्यानन्दि पात्रकेशरी [ईसाकी छठी शताब्दी] ने पात्रकेशरी स्तोत्रकी रचना की, जिसमें ५० श्लोकोंसे भगवान् महावीरकी स्तुति

---

१. देखिए वही : पृ० ९५-९८।

२. दोनों ही क्रमशः, विविधतीर्थंकल्प, मुनि जिनविजय सम्पादित, सिन्धी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, विक्रमाब्द १९९०, पृष्ठ ९९ और ६१ पर छप चुके हैं।

३. देखिए वही : प्रास्ताविक निवेदन, पृष्ठ १।
और
Dr. Winternitz, History of Indian Literature, Vol.II, P.521.

४. दोनों ही, पं० जुगलकिशोर मुख्तारके हिन्दी अनुवाद और सम्पादनके साथ, वीरसेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर) से वि० सं० २००८ में प्रकाशित हो चुके हैं।

५. देखिए काव्यमाला, सप्तम गुच्छक : पं० दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ईसवी, पृ० १०-१७।

६. न्यायावतारं सूत्रं च श्रीवीरस्तुतिमप्यथ।
द्वात्रिंशच्छ्लोकमानाश्च त्रिंशदन्य : स्तुतीरपि ॥१४२॥
प्रभाचार्य, प्रभावकचरित : जिनविजय सम्पादित, विद्या-भवन, बम्बई, १९४०, पृ० ५९।

७. पुरातन जैन वाक्य सूची : प्रथम भाग, पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीरसेवामन्दिर सरसावा, १९५० ईसवीं, प्रस्तावना, पृष्ठ १३०।

की गयी है। इस स्तोत्रको वृहत्पंचनमस्कारस्तोत्र भी कहते हैं।[1] मानतुंगाचार्य (वि० सातवीं शताब्दी) का भक्तामरस्तोत्र[2] दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें प्रसिद्ध है। इसमें ४८ श्लोक हैं, जिनके द्वारा भगवान् आदिनाथकी स्तुति की गयी है। विक्रमकी सातवीं शताब्दीके ही विद्वान् भट्टाकलंकने अकलंकस्तोत्र रचा था[3]। बप्पभट्टि [ई० ७४३–८३८] ने सरस्वतीस्तोत्र[4] और चतुर्विंशतिजिनस्तुति[5] की रचना की थी। विक्रमकी आठवीं और नौवीं शतीके कवि धनञ्जयने विषापहारस्तोत्र बनाया था, जिसकी प्रसिद्ध स्तोत्रोंमें गणना है।[6] मुनि शोभन[7] ने भी चतुर्विंशतिजिनस्तुतिका निर्माण किया था, जिसपर उन्हींके भाई धनपालने टीका लिखी थी।[8]

वादिराजसूरि [ई० की ११वीं शतीका पूर्वार्ध] ने ज्ञानलोचनस्तोत्र[9], एकी-

---

१. Dr. Winternitz, History of Indian Literature, Vol. II, p. 553. N. I.

२. काव्यमाला सप्तम गुच्छक : पं० दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई०, पृ० १-१०।

३. यह स्तोत्र, टीकासहित, कटनी-मुड़वारा, जिला जबलपुरसे वि० सं० १९६३ में प्रकाशित हुआ था।

४. Dr. Winternitz. History of Indian Literature, Vol. II, p. 553, N. I.

५. चतुर्विंशतिका अवचूरि सहित : स्तुति संग्रह : बम्बई, १९१२ ई०।

और

चतुर्विंशतिका : आगमोदय समिति, वि० सं० १९८२।

६. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि : डॉ० ए. एन. उपाध्ये सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५७ ई०, छठा खण्ड, पृ० ४९४-९८ पर प्रकाशित।

और

पंचस्तोत्र संग्रह : पं० पन्नालाल हिन्दी अनूदित, सूरत, पृ० ९१-१२२।

७. मुनि शोभन, दसवीं शताब्दी ईसवीके उत्तरार्धमें हुए हैं। देखिए, Dr. Winternitz, History of Indian Literature, Vol. II. p.553.

८. पं० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास : नवीन संस्करण, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, अक्टूबर १९५६, पृ० ४१०।

९. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, संख्या २१, पृ० १२४ पर प्रकाशित।

भावस्तोत्र[1] और अध्यात्मशतककी रचना की थी। आचार्य हेमचन्द्र [जन्म सं० ११४५, मृत्यु सं० १२२९][3] ने वीतरागस्तोत्र, महादेवस्तोत्र और महावीरस्तोत्रका निर्माण किया था।[4] चौदहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें श्री जिनप्रभ-सूरिने चतुर्विंशतिजिनस्तोत्रम् और चतुर्विंशतिजिनस्तुतयः की रचना की थी।[5]

ऐसा कथन भ्रम-मूलक है कि अपभ्रंशमें स्तुति-स्तोत्रोंकी रचना नहीं हुई। स्वयंभू [८वीं शताब्दी ईसवी] के 'पउमचरिउ' में और पुष्पदन्त [१०वीं शताब्दी ईसवी] के 'महापुराण'में स्थान-स्थानपर विविध स्तुति-स्तोत्र तो हैं ही, किन्तु पृथक्से स्वतन्त्र रूपमें भी उनकी रचना हुई है। कवि धनपाल [११वीं शताब्दी विक्रम] के 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' की बात पं० नाथूरामजी प्रेमीने कही है[6]। इसमें भगवान् महावीरकी स्तुति है[7]। जिनदत्तसूरि [जन्म ११३२, मृत्यु १२११ विक्रम संवत्[8]] ने चर्चरी और नवकारफलकुलक अपभ्रंशमें ही रचे थे[9]। श्री देवसूरि [जन्म ११४३, मृत्यु १२११ वि० सं०][10] ने मुनिचन्द्र सूरिस्तुतिका निर्माण किया था।

---

१. बृहज्जिनवाणीसंग्रह : पं० पन्नालाल बाकलीवाल सम्पादित, जैन ग्रन्थ कार्यालय मदनगंज, सम्राट् संस्करण, सितम्बर १९५६, पृ० २५८ पर प्रकाशित।
२. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, संख्या १३, पृ० १३१ पर प्रकाशित।
३. डॉ० हरवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य : भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, पृ० ३२१–२२।
४. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार : फतेहचन्द बेलानी सम्पादित, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, काशी, १९५० ई०, पृ० १९।
५. दोनों ही, जैनस्तोत्रसमुच्चय : मुनि चतुरविजय सम्पादित, बम्बई, १९२८ ईसवी, द्वितीय भाग, पृ० १४९–५७ पर प्रकाशित।
६. पं० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास : नवीन संस्करण, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, अक्टूबर १९५६, पृ० ४१०।
७. जैन साहित्य संशोधक : वर्ष ३, अंक ३ में प्रकाशित।
८. जैनस्तोत्रसन्दोह : प्रथम भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, १९३२ ईसवी, प्रस्तावना, पृ० ३३–३४।
९. Descriptive Catalogue of Manuscripts at the Jain Bhandaras at Patan, Lalchandra Bhagvandas Gandhi Edited, Oriental Institute, Baroda, Vol. I, 1937 A.D, p. 267, 44.
१०. जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, प्रस्तावना, पृ० ३६।

श्री जिनप्रभसूरिने चर्चरीस्तुति [पाटण ग्रन्थ भण्डारकी सूची, पृष्ठ २६७], जिनजन्ममहःस्तोत्रम् [२७३], जिनजन्माभिषेकः [२७५], जिनमहिमा [१८९] और मुनिसुव्रतस्तोत्रम् [२७५] की रचना की थी। ये जिनप्रभसूरि आगमगच्छीय देवभद्रसूरिके शिष्य थे और विविधतीर्थकल्पके कर्त्तासे भिन्न थे[1]। डॉ० विण्टरनित्सने उनको सुल्तान फिरोज [१२२०-१२९६ वि. सं०] का मित्र बताया है।[2] पाटण भण्डारकी ग्रन्थसूचीमें इनकी कृति जिनजन्ममहःस्तोत्रम्-का रचनाकाल वि० सं० १२९३ दिया हुआ है।[3] इससे स्पष्ट है कि वे विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके उत्तरार्धके कवि थे। इसी ग्रन्थसूचीमें धर्मसूरिशिष्य [१३१०-७३ वि० सं०] के पार्श्वनाथजन्मकलशः [३०८], शान्तिभद्रके जिननमस्कारः [२७३], शान्तिसमुद्रके नवफणपार्श्वनमस्कारः [१४४], वर्धमानसूरिके वीरजिनपारणकम् [४१२], स्तोत्रसंग्रह [१९५], स्तुतिद्वात्रिंशिका [२५], ऋषभजिनस्तुति [४४,४५], गौतमचरित्रकुलक [२६६], जिनगणधरनमस्कार [१९२], जिनस्तुति [४१२], जिनस्तोत्रम् [१४५] और शान्तिनाथस्तुति [१३५] की भी सूचना संकलित है।

श्री धर्मघोषसूरि [वि० सं० १३०२-५७] ने महावीर-कलशका निर्माण किया था। इसमें २७ पद्य हैं। यह जैनस्तोत्रसंदोहके प्रथम भागमें प्रकाशित हो चुका है[4]। इसी भागमें 'विविधतीर्थस्तुतयः' भी संकलित हैं, जिनका निर्माण अपभ्रंशमें ही हुआ है। उनके कर्त्ताका नामोल्लेख नहीं है[5]। श्री सोमसुन्दरसूरि [वि० सं० १४३०-९९] ने 'षड्भाषामयस्तोत्राणि' की रचना की थी। इन सबके

---

१. जैनस्तोत्रसंदोह, द्वितीय भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद प्रस्तावना गुजराती, पृ० ५२।

२. Dr. Winternitz, History of Indian Litearture, Vol. II. p. 544.

३. Descriptive Catalogue of Manuscripts of the Jain Bhandaras at Patan, Lalchandra Bhagvandas Gandhi Edited, Oriental Institute, Baroda, Vol. 1, 1937 A.D. प्रास्ताविकम्, पृ० २५.

४. जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, पृ० २५७-६२।

५. देखिए वही : पृ० ३७५।

अन्तका पद्य अपभ्रंशमें है। [१]रइधू [१६वीं शताब्दी विक्रम] ने आत्म-सम्बोधन, दशलक्षण जयमाल और संबोध-पचासिकास्तोत्र अपभ्रंशमें ही रचे थे[२]। महावीर-शास्त्रभण्डारकी ग्रन्थसूचीमें श्री वल्हवके लिखे हुए नेमीश्वर गीतका उल्लेख हुआ है[३]। यह भगवान् नेमीश्वरकी भक्तिमें, अपभ्रंशका एक गीत है। गणि महिमासागरके 'अरहंत चौपई' नामके स्तोत्रकी रचना भी अपभ्रंशमें ही हुई है[४]।

३. संस्तव, स्तव और स्तवन

परिभाषा

संस्तवनं संस्तवः, अर्थात् सम्यक् प्रकारसे स्तवन करना ही संस्तव कहलाता है। संस्तवमें सम्यक् जुड़ा हुआ है, अन्यथा वह स्तव और स्तवन ही है। यद्यपि संस्तव शब्द, 'वातुर्गुणविकत्थने', 'तेन सह आत्मनः सम्बन्धविकत्थने', 'परिचये प्रत्यासत्तौ' और 'स्नेहे' आदि अनेक अर्थोंमें आता है, किन्तु प्रमुखरूपसे उसका सम्बन्ध परिचय और श्लाघासे ही है।[५] अभिधानराजेन्द्र कोशमें संस्तवके दो भेद माने गये हैं—सम्बन्धी संथव और वयण संथव। पहलेका अर्थ माता-पिता और सास-ससुरके साथ परिचयसे है, और दूसरेका तात्पर्य श्लाघारूप वचनोंसे है।[६] अमरकोशमें 'संस्तवः स्यात् परिचयः' कहकर संस्तवको केवल परिचय रूपमें स्वी-

---

१. स्तोत्रसमुच्चय : चतुरविजय सम्पादित, बम्बई, १९२८ ई०, प्रथम भाग, पृ० ९९।

२. राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थसूची : भाग ३, कस्तूरचन्द काशलीवाल सम्पादित, जयपुर, अगस्त १९५७, परिशिष्ट, ग्रन्थ और ग्रन्थकार : पृ० ३६३।

३. आमेरशास्त्र भण्डार जयपुरकी ग्रन्थसूची : कस्तूरचन्द सम्पादित, जयपुर, वीर निर्वाण २४७५, महावीर शास्त्र भण्डारके ग्रन्थ : पृ० १८९।

४. राजस्थानके जैन शास्त्र भण्डारोंकी ग्रन्थ सूची : भाग २, कस्तूरचन्द सम्पादित, जयपुर, जनवरी १९५४, पृ० २९४।

५. अभिधानराजेन्द्र कोश : भाग ७, 'संथव' शब्द।

६. दुविहो संथवो खलु, संबंधीवयणसंथवो चेव।
एक्केक्को वि य दुविहो, पुव्वं पच्छा य नायव्वो॥
अभिधानराजेन्द्र कोश : भाग ७, ४८४वीं गाथा।

कार किया गया है ।[1] भक्तिके क्षेत्रमें संस्तव शब्दका परिचयवाला अर्थ, केवल चौबीस तीर्थंकरोंसे सम्बन्धित है, किसी लौकिक पुरुषके साथ नहीं । भक्तकी आराध्यसे घनिष्ठता ही संस्तव है । संस्तवका श्लाघावाला रूप तो सभी जगह आया है, किन्तु उसमें भी जिनेन्द्रके अनन्तचतुष्टयकी श्लाघा ही अभीष्ट है, लौकिक निमित्तके लिए सांसारिक-जनकी चाटुकारितासे यहाँ कोई मतलब नहीं है । वट्टकेर-कृत मूलाचारमें तीर्थंकरके असाधारण गुणोंकी प्रशंसा करनेको ही स्तव स्वीकार किया गया है ।[2] षड्आवश्यकसूत्रमें भी चौबीस तीर्थंकरोंकी प्रशंसा करनेको ही स्तव कहा है ।[3]

स्तव और स्तोत्रमें भेद

श्री शान्तिसूरिने दोनोंमें भेद बताते हुए लिखा है, "स्तव गम्भीर अर्थवाला और संस्कृत भाषामें निबद्ध किया जाता है, तथा स्तोत्रकी रचना विविध छन्दोंके द्वारा प्राकृत भाषामें होती है ।"[4] अर्थात् स्तव संस्कृतमें और स्तोत्र प्राकृतमें रचा जाता है । कुछ समय तक यह भेद अवश्य चलता रहा होगा, क्योंकि भद्रबाहुका 'उवसग्गहरस्तोत्त' प्राकृत भाषामें ही है, किन्तु परवर्त्ती समयमें ऐसा भेद नहीं रहा । आचार्य समन्तभद्रका बृहत्स्वयंभूस्तोत्र संस्कृतमें है और धर्मविधानका 'जस्सासी चवणं चउत्थिदिवं' वाला चतुर्विंशतिकास्तवन प्राकृतमें है, कल्याण-मन्दिरस्तोत्र संस्कृतमें है और पंचकल्याणस्तवनम् प्राकृतमें है ।

---

१. अमरकोश : संक्षिप्त माहेश्वरी टीका युक्त,नारायणराम आचार्य 'काव्यतीर्थ' संशोधित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९४० ईसवी, २२९५वीं पंक्ति, पृ० २२४ ।

२. उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ ॥
वट्टकेरकृत मूलाचार : २४वीं गाथा, तत्त्वसमुच्चय, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, भारत जैन महामण्डल, वर्धा, नव० १९५२, पृ० २३ से उद्धृत ।

३. Bimal Charan Law, Some Jain Canonical Sutras, Royal-Asiatic Society, Bombay, 1949 A. D. p. 148.

४. सक्कयभासाबद्धो, गंभीरत्थो, थओत्ति विक्खाओ ।
पाययभासाबद्धं थोत्तं विविहेहिं छंदेहिं ॥ ८४१ ॥
श्री शान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. १९७७, पृ० १५० ।

आचार्य नेमिचन्द्र [११वीं शताब्दी पूर्वार्ध वि०सं०] के गोम्मट्टसार कर्म-काण्डमें स्तव और स्तुतिमें भेद बताया गया है, "स्तवमें वस्तुके सर्वांगका और स्तुतिमें एक अंगका अर्थ विस्तार या संक्षेपसे रहता है।"[1] आगे चलकर यह भेद विलुप्त हो गया और मनचाहे रूपसे स्तव और स्तुति नाम दिये जाने लगे।

स्तवके भेद

मूलाचारमें स्तव या स्तवनके छह भेद कहे गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[2] पण्डित आशाधरजीने भी अपने अनगारधर्मामृतके आठवें अध्यायमें स्तवनके ये ही छह भेद गिनाये हैं। चौबीस तीर्थंकरोंके वास्तविक अर्थ-वाले एक हज़ार आठ नामोंसे स्तवन करनेको नामस्तव कहते हैं।[3] तीर्थंकरके बिम्ब और मूर्तिके स्तवनको स्थापनास्तव, आचार्य-उपाध्याय और साधुओंके शरीरस्तवनको द्रव्यस्तव, जैन महापुरुषों और तीर्थंकरोंसे सम्बन्धित स्थानोंके स्तवनको क्षेत्रस्तव, पंचकल्याणक अथवा किसी महत्त्वपूर्ण घटना-समयके स्तवनको कालस्तव और हृदयमें जिनेन्द्रको लाकर, उनके प्रति बने प्रशंसामय भावोंको भाव-स्तव कहते हैं।

स्तव-साहित्य

मुनि चतुरविजयजीने श्री विजयसिंहाचार्यके नेमिस्तवन को सबसे अधिक प्राचीन माना है। उनका कथन है, "इत्यादिपद्यावलोकनादतिप्राचीनतरं स्तोत्र-मिति निश्चयो मे जातः। यतोऽसौ श्रीविजयसिंहाचार्यः श्री आर्यखपटवंशीयः।" उन्होंने आचार्य श्री खपटगुरुको भगवान् महावीरसे मोक्ष जानेके ४८४ वर्ष बादका माना है।[4] श्री सिद्धसेन दिवाकरके पार्श्वनाथस्तवन और शक्रस्तव भी प्राचीन

---

१. सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं।
वण्णणसत्थंथय थुइ धम्मकहा होइ णियमेण ॥ ८८ ॥
नेमिचन्द्राचार्य, कर्मकाण्ड : जे. एल. जैनी सम्पादित, अजिताश्रम लखनऊ, १९२७ ईसवी, पृ०४०।

२. वट्टकेर, मूलाचार : माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, ७।४०।

३. चतुर्विंशतितीर्थंकराणां यथार्थानुगतैः अष्टोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभिः स्तवनं चतुर्विंशतिनामस्तवः।
देखिए वही : आचार्य वसुनन्दिकृत संस्कृत टीका, ७।४१।

४. जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद। प्रस्तावना, पृ० ९-१०।

हैं।[1] विक्रमकी आठवीं शताब्दीके हरिभद्रसूरिका वीरस्तव, और श्री बप्पभट्टि-सूरिका साधारणजिनस्तवन या वीरस्तव[2] भी बहुत प्रसिद्ध हैं। भगवज्जिन-सेनाचार्य [नवीं शताब्दी विक्रम] का सहस्रनाम, नामस्तवनके अन्तर्गत आता है।[3]

कवि धनपालने संस्कृत-प्राकृतमय वीरस्तवकी रचना की थी।[4] श्रीजिनदत्त-सूरिका अजित-शान्तिस्तव[5] और हेमचन्द्राचार्यके नेमिस्तवनकी[6] प्रसिद्ध स्तवोंमें गणना है। पं० आशाधर [१२३५-१३०० वि.सं.] का सहस्रनामस्तवन सुखसागरीय और स्वोपज्ञवृत्तियोंके साथ प्रकाशित हो चुका है।[7] आचार्य-हेमचन्द्रके शिष्य श्री रामचन्द्रसूरि (जन्म सं० ११४५ मृत्यु सं० १२३०) ने १७ 'साधारणजिनस्तवन,' 'श्री मुनिसुव्रतदेवस्तवः' और 'श्री नेमिजिन-स्तवः' की रचना की थी।[8] विविधतीर्थकल्पके कर्त्ता श्री जिनप्रभसूरिके उज्जयन्तस्तव, ढींपुरीस्तव, हस्तिनापुरतीर्थस्तवन और पंचकल्याणकस्तवन विविध तीर्थकल्पमें निबद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृतमें पार्श्वनाथस्तव और अपभ्रंशमें जिनागमस्तवनकी भी रचना की।[9] श्री शान्तिसूरि [१२वीं शती ईसवी] ने शान्तिस्तव और मेरुनन्दनोपाध्याय [१३७५-१४३२ वि. सं.]

---

१. दोनों ही देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सीरीज, बम्बईसे प्रकाशित हो चुके हैं।
२. जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, पृ० २९।
३. बृहज्जिनवाणीसंग्रह : पं० पन्नालाल बाकलीवालजी सम्पादित, जैन ग्रन्थ-कार्यालय, मदनगंज, सम्राट् संस्करण, सितम्बर १९५६, पृष्ठ १६५-८५ पर प्रकाशित हो चुका है।
४. जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, पृष्ठ ९१ पर प्रकाशित हो चुका है।
५. देखिए वही : पृष्ठ १९९।
६. सिद्धहेमव्याकरणका ही एक भाग है।
७. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वि. सं. २०१०।
८. तीनों ही, जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अह-मदाबाद, क्रमशः पृष्ठ १६२-८९, १३३ और १३८ पर प्रकाशित हो चुके हैं।
९. दोनोंका उल्लेख, Jina Ratna Kosa, Vol. I, H. D. Velankar Edited, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, II 44, p. 139, 247 पर हुआ है।

ने सीमंधरजिनस्तवनका अपभ्रंशमें निर्माण किया था।[1] सोमसुन्दरसूरि [१५वीं शताब्दी विक्रम] का पार्श्वजिनस्तवन भी प्रसिद्ध है।[2]

श्री सिद्धसेनसूरिने शाश्वतजिनस्तव और शाश्वतजिनप्रतिमास्तवन-की प्राकृतमें रचना की थी।[3] श्री नन्दिसेनने अजितशान्तिस्तवका प्राकृतके ४० पद्योंमें निर्माण किया था, जिसपर श्री जिनप्रभसूरिने वि. सं. १३६५ में बोध-दीपिका नामकी टीका लिखी थी।[4] डॉ० विण्टरनित्सने भाषाके आधारपर श्री नन्दिसेनका समय विक्रमकी नौवीं शताब्दीसे पूर्व अनुमान किया है।[5] श्री जिनवल्लभसूरि [१२वीं शतीका पूर्वार्ध] ने भी अजितशान्ति-स्तवकी प्राकृतके १७ पद्योंमें रचना की थी। इस स्तवनको उल्लासिखमात्य भी कहते हैं।[6] श्री जिनदत्त सूरिका श्रुत-स्तव बहुत प्रसिद्ध है।[7] श्री मुनिचन्दसूरि [११२२ ईसवी] ने तीर्थमालास्तवन लिखा, जिसमें १११ अथवा ११२ प्राकृतकी गाथाएँ हैं। श्री देवेन्द्रसूरिने चत्तारिअट्ठस्तवनं [११५ गाथाएँ], सम्य-क्त्वस्वरूपस्तवः [२५ गाथाएँ], चैत्यप्रतिकृतिस्तवनं [सावचूरिकं] और शाश्वतबिम्बसंख्यास्तवनं [२४ गाथाएँ] की रचना की थी। मुनि चतुर-विजयजीने इनका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दी निर्धारित किया है।[8] श्री धर्म-

१. जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, पृ० ३४० पर प्रकाशित।
२. देखिए वही : द्वितीय भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, पृ० १९८ पर प्रकाशित।
३. Jina Ratna Kosa, Vol. I, H. D. Velankar Edited, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona; 1944, p. 382.
४. यह स्तव गोविन्दाचार्य और जिनप्रभसूरिकी टीकाओंके साथ, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरतसे प्रकाशित हो चुका है।
५. Dr. Winternitz; History of Indian Literature Vol. II, p. 554.
६. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार : फतेहचन्द्र बेलानी सम्पादित, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, काशी, १९५०, पृष्ठ १६।
७. अगरचन्द नाहटा, युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि : मल्लिकलेन कलकत्ता, वि. सं. २००३, पृष्ठ १०५।
८. तेन निर्णीयते निर्विरोधं सत्तासमयोऽस्य विक्रमीयत्रयोदशशताब्दी रूप एव। जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, प्रस्तावना, पृष्ठ ५५।

घोषसूरि का लौकान्तिकदेवस्तवन प्राकृतमें है और बहुत ही प्रसिद्ध है।[1] श्री जिनप्रभाचार्यका जिनराजस्तव और पद्मनन्दीका जिनवरदर्शनस्तवन प्राकृत गाथाओंमें लिखे गये थे। पाटण भण्डारकी ग्रन्थसूचीमें प्राकृतके ऋषभजिन स्तवनम् [पृष्ठ १७७], ऋषिमण्डलस्तवः [१२१], चतुर्विंशतिस्तवः [२९५], देवेन्द्रस्तवः [६०], नयगमस्तवः [१४६], नेमिनाथस्तवनम् [१७७] वीरजिनस्तवः [६०], शाश्वतचैत्यस्तवः [१५३], साधारणस्तवः [१०३] और स्थानकस्तवनम् [१३४] का विशिष्ट रूपसे उल्लेख हुआ है।[2]

ऐसे स्तवन भी उपलब्ध हुए हैं, जिनका प्रत्येक पद्य दूसरे पद्यसे भिन्न भाषामें रचा गया। उनके रचयिता अनेक भाषाओंके प्रौढ़ विद्वान् थे। श्री धर्मवर्धन [१२वीं शती ईसवी] के 'षड्भाषामय पार्श्वनाथस्तवन' में, श्री जिनपद्मसूरि [१३२५-४० ईसवी] के 'षड्भाषाविभूषितशान्तिनाथस्तवन' में और जयचन्द्रसूरिके शिष्य जिनकीर्ति [१५वीं शती ईसवी] के 'षड्भाषामयस्तव' में संस्कृत; महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंशका प्रयोग हुआ है[3]। खरतरगच्छके जिनप्रभसूरिका भी 'षड्भाषास्तव' पाया जाता है, जो भस्मी मानिक बम्बईसे प्रकाशित हो चुका है। 'सोपारकस्तवनम्' एक ऐसा स्तवन है, जिसके प्रत्येक पद्यके लिए पृथक् छन्दका प्रयोग हुआ है और इस प्रकार ३२ पद्योंके लिए ३२ छन्द अपनाये गये हैं[4]। मेरुनन्दनोपाध्यायका 'अजितशान्तिस्तवनम्' अपभ्रंशमें है[5]। श्री जयकीर्तिसूरिका पार्श्वदेवस्तवनम् भी अपभ्रंशमें ही है[6]। सूरि जीका समय १४३३–१५०० विक्रम माना जाता है[7]। श्री सोमसुन्दरसूरि

---

१. देखिए वही : 'ज' परिशिष्टमें प्रकाशित।

२. देखिए, Descriptive Catalogue of Manuscripts of the Jain Bhandaras at Patan, Lalchandra Bhagvandas Gandhi Edited, Oriental Institute Baroda, Vol. I, 1937 A.D.

३. Dr. Winternitz, History of Indian Literature, Vol. II, p. 558.

४. जैनस्तोत्रसमुच्चय : मुनि चतुरविजय सम्पादित, बम्बई, १९२८ ईसवी, पृ० ७-१४ तक प्रकाशित।

५. जैनस्तोत्रसंदोह : प्रथम भाग, चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, प्रस्तावना, पृ० ७३।

६. देखिए वही : द्वितीय भाग, पृ० १५९ पर प्रकाशित।

७. देखिए वही : द्वितीय भाग, गुजराती प्रस्तावना, पृ० ५९।

के 'षड्भाषामयानि जिनपञ्चकस्तोत्राणि' का प्रकाशन हो चुका है[1]।

४. वन्दना

वन्दनाकी परिभाषा

वट्टकेरकृत मूलाचारमें कहा है कि तपगुरु, श्रुतगुरु, गुणगुरु, दीक्षागुरु और राधिकगुरुको आदर-सम्मानसे, मन-वचन-कायकी शुद्धिसे सिर झुकाकर प्रणाम करना वन्दना है[2]। आवश्यकसूत्रमें भगवान् महावीरके प्रमुख शिष्योंको, नमस्कार करनेको ही वन्दना कहा है[3]। प्रमुख शिष्य गणधर कहलाते थे। वे ही भगवान्की दिव्यध्वनिके व्याख्याता थे। उन्हें गुरु संज्ञासे अभिहित किया गया है। इस भाँति आवश्यक सूत्रने गुरुके लिए अर्पित नमस्कारको वन्दना कहा है। उत्तराध्ययनके उन्तीसवें व्याख्यानमें प्रोफ़ेसर जैकोबीने लिखा है, "गुरुको श्रद्धा अर्पित करना ही वन्दना है[4]।" मिसेज़ स्टीवेन्सनका भी कथन है, "अपराधोंके लिए गुरुसे क्षमा-याचना करना ही वन्दना है[5]।" शतावधानी श्री धीरजलाल टोकरशी शाहका मत है, "गुरुको नमस्कार करना, गुरुका बहुमान करना, उनके समागमसे आत्माको जागृत रखना, और सुस्ती, लापरवाही या विपरीतपनसे उनकी उपेक्षा न करना ही वन्दना है।[6]"

---

१. जैनस्तोत्रसमुच्चय : मुनि चतुरविजय सम्पादित, बम्बई, १९२८ ई०, पृ० ९९-१०६ पर प्रकाशित।

2. अरहन्त-सिद्धपडिमा-तव-सुद- गुणगुरुगुरूण रादीणं।
किदिकम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥
वट्टकेर, मूलाचार : माणिकचन्द दिगम्बरजैन ग्रन्थमाला, बम्बई, २५वीं गाथा।

3. The third is the veneration of the leading disciples of Mahavira. देखिए,Bimal Charan Law, Some Jaina Canonical Sutras, Bombay, 1949, आवस्यसूय, XX111, p. 148.

4. Jacobi, Jain Sutars, Part II, Maxmuller Edited, Sacred Books of the East, Vol. XIV. Oxford, 1895, उत्तराध्ययनसूत्र, २९वाँ अध्याय, पृष्ठ १५९।

5. Mrs. Stevenson, The heart of Jainism, Huniphrey Milford, Oxford University Press, 1915, P. 255.

६. धीरजलाल टोकरशी शाह, ईर्यापथप्रतिक्रमण, श्रमण, वर्ष १, अंक ७, पृष्ठ ३५।

अर्हंतकी वन्दना

वैसे तो आचार्य और उपाध्यायको ही गुरु कहते हैं, किन्तु उनका भी गुरु है भगवान् जिनेन्द्र, अतः उनकी भक्तिमें भी 'वन्दना' का प्रयोग हुआ है। यह कहना भ्रम-मूलक है कि वन्दना, आचार्य और उपाध्याय तक ही सीमित है। उमास्वाति वाचकने लिखा है कि सच्चा जैन वही है, जो दर्शन-शुद्धिके निमित्त ठीक समयपर भगवान् जिनेन्द्रकी वन्दना करता है।[1] आवश्यक सूत्रपर लिखो गयो भद्रबाहु-निर्युक्तिमें तो अर्हन्त उसीको कहा है, जो वन्दन-नमस्कार और पूजा-सत्कार आदिको स्वीकार करनेमें समर्थ हो।[2] श्री हरिभद्रसूरिने भगवान् जिनेन्द्रके सम्मुख शुद्ध मन-वच-कायसे झुकनेको ही वन्दना कहा है।[3] श्री शान्तिसूरिने भी लिखा है, ''सुखकी अभिलाषा करनेवालोंको चाहिए कि वे प्रणिधानपूर्वक सभी जिनेन्द्रोंकी वन्दना करें।''[4]

चैत्यवन्दन

चैत्य-वन्दनमें पड़ा हुआ 'चैत्य' शब्द किसी भूतावास या वृक्षका द्योतक नहीं है, अपितु बिम्ब या मूर्त्तिको कहनेवाला है। आचार्य कुन्दकुन्दने षट्पाहुडमें बिम्ब या मूर्त्तिको चैत्य कहा है।[5] भगवान् जिनेन्द्रके स्थूल चिह्न बिम्ब या मूर्त्ति-

---

१. अहिगारिणाउ काले कायव्वा वंदणा जिणाईणं।
   दंसणसुद्धिनिमित्तं कम्मक्खयमिच्छमाणेण ॥१०॥
   शान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. १९७७, पृ० २ पर निबद्ध।

२. अरहंति वदणनमंसणाणि अरहन्ति पूयसक्कारं।
   सिद्धिगमणं च अरिहा, अरहंता तेण वुच्चन्ति ॥
   भद्रबाहु-निर्युक्ति सहित आवश्यकसूत्र : आगमोदय समिति, सूरत, गाथा ९२१वीं, पृ० ४०६।

३. देखिए हरिभद्रसूरि, वंदनपंचाशकं : शान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७७, गाथा नं० १६५-६८ से उद्धृत।

४. इय सव्वचेइयाण वि कायव्वा वंदणा सुहत्थीहिं।
   सव्वे [वि] जिणिंदा एरिस त्ति पणिहाण जुत्तेहिं ॥
   देखिए वही : ६४०वीं गाथा, पृ० ११५।

५. आचार्य कुन्दकुन्द, बोधपाहुड : ९वीं गाथा, षट्पाहुड : आचार्य श्रुतसागर संस्कृत टीका, पं० जयचन्द छावड़ा भाषा टीका, पृ० ३७।

की वन्दनाको चैत्यवन्दन कहते हैं।[1] यत्र-तत्र कहींपर भी जिन-बिम्बकी कल्पना करके जो पूजा आदि की जाती है, वह भी चैत्य-वन्दन ही समझना चाहिए।[2] जिन-बिम्बके अभावमें गुरुको ही 'जिन'का साक्षी मानकर नमस्कारादि करना भी चैत्य-वन्दन है।[3] जिस प्रकार मूर्त्ति या बिम्ब 'जिन'के प्रतीक हैं, वैसे ही गुरु भी 'जिन'का प्रतिनिधि है। दोनोंके लिए चैत्य शब्दके प्रयोगमें कोई बाधा नहीं है।

वन्दना और पूजामें भेद

"अभिवादनको वन्दना और माल्याद्यर्चनको पूजा कहते हैं। मन-वचन-काय-के प्रशस्त व्यापारका नाम अभिवादन है और पूजनमें माल्याद्यर्चनके अतिरिक्त वस्त्र-सत्कार भी शामिल है।[4]" यह भेद केवल शैली-गत है, भाव-गत नहीं। भगवान्के प्रति श्रद्धाका भाव दोनोंमें समान होता है।

वन्दना-साहित्य

वन्दनकसूत्रपर, श्री भद्रबाहु स्वामीकी निर्युक्ति, १९४ गाथाओंमें लिखी गयी थी, जो वन्दना विषयपर सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। इसी सूत्रपर श्री यशोदेवसूरिने वि० सं० ११७४में चूर्णि और श्री सोमसुन्दरसूरिने भाष्य लिखा था।[5] उत्तराध्ययनसूत्र और आवश्यकसूत्रोंमें भी वन्दनाका सुव्यवस्थित वर्णन हुआ है। आवश्यकसूत्रपर तो 'वन्दारुवृत्ति' के नामसे एक टीका भी लिखी गयी थी।[6] श्री हरिभद्रसूरिके 'वन्दनापंचाशक' में वन्दनाका ही वर्णन है।

---

१. भावजिणप्पमुहाणं, सव्वेसिं चेव वंदणा जइ वि।
जिण चेइयाण पुरओ, कीरइ चिइवंदणा तेण ॥१२॥
शान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : भावनगर, वि० सं० १९७७, पृ० ३।

२. अहवा जत्थ वि तत्थ वि, पुरओ परिकप्पिऊण जिणबिंबं।
कीरइ बुहेहिं एसा, नेया चिइवंदणा तम्हा ॥१४॥
श्री शान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : भावनगर, वि० सं० १९७७, पृ० ३।

३. जिणबिंबाभावे पुण, ठवणा गुरु सक्खिया वि कीरन्ती।
चिइवंदण च्चिय इमा, नायव्वा निउणबुद्धीहिं ॥१३॥
देखिए वही : पृ० ३।

४ वंदणमभिवायणयं, पसत्थमण-वयण-कायवावारो
मल्लाइ अच्चणं पूयणं ति वत्थेहिं सक्कारो ॥३९८॥
देखिए वही : पृ० ७२।

५. Jina Ratna Kosa, Vol. I, H.D. Velankar Edited, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1944, P. 341.

६. देखिए वही : पृ० ३४१।

श्री जिनदत्तसूरिने 'चैत्यवन्दनकुलक' की रचना प्राकृतकी २८ गाथाओंमें की थी।[1] श्री जिनप्रभसूरिके 'वन्दनस्थानविवरण'में प्राकृतकी १५० गाथाएँ हैं।[2] श्री शान्तिसूरिका 'चेइयवन्दणमहाभासं' भी वन्दनाका प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[3]

श्रुत-साहित्यमें वन्दनाका स्थान

भगवान् महावीरका मूल श्रुत दो भागोंमें विभक्त था—अंगश्रुत [अंगप्रविष्ट] और अनंगश्रुत [अंगबाह्य]। अंगश्रुतके बारह और अनंगश्रुतके अनेक भेद किये गये थे।[4] वन्दनाका अनंगश्रुतके अनेक भेदोंमें तीसरा स्थान है। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार यह अंग अभीतक मौजूद हैं। दिगम्बरोंका मत है कि ये सभी अंग भगवान् महावीरके निर्वाणके उपरान्त ६८३ वर्षतक जीवित रहे और फिर लुप्त हो गये।[5]

---

१. यह ग्रन्थ, श्री जिनकुशलसूरिकी वृत्ति [४४०० श्लोकप्रमाण] और श्री लब्धनिधानके संक्षिप्त टिप्पणके साथ, जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत से, वि० सं० १९८३में प्रकाशित हो चुका है।

२. Jina Ratna Kosa, Vol. I. H. D. Velankar Edited, Oriental Research Institute Poona, 1944, P. 341.

३. यह ग्रन्थ, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगरसे वि० सं० १९७७ में प्रकाशित हो चुका है।

४. 'श्रुतं मतिपूर्वं द्वि-अनेकद्वादशभेदम्।'
देखिए उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० सुखलाल संघवी सम्पादित, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, १९५२ ई०, १।२०, पृ० ३४।
अंगश्रुतके बारह भेद—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवाद।
भट्टाकलंक, तत्त्वार्थवार्त्तिक : पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, जनवरी १९५३, १।२०, पृ० ७२।
अंगबाह्यके मुख्य भेद—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान [छह आवश्यक], दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित आदि शास्त्र।
तत्त्वार्थसूत्र : पं० सुखलाल सम्पादित, बनारस, पृ० ३७।

५. सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, प्रस्तावना, पृ० १३।

५. विनय

विनयकी परिभाषा

'विनय' वि और नयसे मिलकर बना है, जिसका अर्थ है विशेष रूपसे झुकना आराध्यकी महानतासे प्रभावित हो भक्तका झुक-झुक जाना ही विनय है। इस झुकनेमें न तो स्वार्थ है और न दबावजनित विवशता। स्वार्थके लिए झुकना विनय नहीं खुशामद है और किसीके दबावमें आकर झुकना कायरता है। विनय सात्त्विकताका भाव है, जब कि खुशामदमें स्वार्थ-जनित राजसिकता रहती है। विनय स्वयं उत्पन्न होती है, और वह विनय-कर्त्ताके पवित्र हृदयकी प्रतीक है। पवित्र हृदय ही दूसरोंके गुणोंपर मुग्ध हो सकता है।

जैनोंकी ज्ञान-विनय

आचार्य उमास्वातिके 'ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारः'[1] की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपादने कहा है, "सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञान-विनयः।[2]" इसका अर्थ है कि बहुत आदरके साथ ज्ञानका ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञान-विनय है। आचार्य वसुनन्दिका भी कथन है, "ज्ञानमें, ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदिकमें, तथा ज्ञानवन्त पुरुषमें भक्तिके साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञान-विनय है।[3]" तात्पर्य यह है कि ज्ञान-विनय, ज्ञानकी भक्ति है, और उस भक्तिसे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

दर्शन-विनय

विनय और श्रद्धाका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब-तक श्रद्धा न होगी, विनय

---

१. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, वीर निर्वाणसंवत् फाल्गुन २४७७, ९।२३, पृ० २१५।

२. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, पृ० ४४१।

३. णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए।
जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ हु ॥ ३२२ ॥
आचार्य वसुनन्दि, श्रावकाचार : पं० हीरालाल सम्पादित, काशी, पृ० ११४।

होगी ही नहीं, और सच्ची विनयके साथ श्रद्धा होगी ही। जैन साहित्यकारोंने दर्शनमें श्रद्धा करनेको ही दर्शन-विनय कहा है, और दर्शनका अर्थ है भगवान्‌की दिव्य-ध्वनिमें खिरे सात तत्त्वोंका[1] साक्षात्कार करना। इस भाँति आचार्य पूज्यपादकी दृष्टिमें 'शङ्कादिदोषरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शन-विनयः' है।[2] इसका अर्थ है कि शंकादि दोषोंसे रहित, तत्त्वार्थ-श्रद्धानको दर्शन-विनय कहते हैं। तत्त्वार्थका श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है,[3] जिससे मोक्ष मिलता है, और तत्त्वार्थका श्रद्धान ही दर्शन-विनय है, फिर वह भी मोक्ष-प्रदाता माना जायेगा।

चारित्र-विनय

आचार्य वसुनन्दिने लिखा है, "परमागममें पाँच प्रकारका चारित्र, और इसके जो अधिकारी या धारण करनेवाले वर्णन किये गये हैं, उनके आदर-सत्कारको चारित्र-विनय जानना चाहिए[4]।" अर्थात् चारित्र-विनय केवल पाँच प्रकारके चरित्रकी नहीं, किन्तु चारित्रवानोंकी भी विनय है। चारित्रवानोंमें तीर्थंकरसे लेकर चारित्रधारी महापुरुष तक सभी आ जाते हैं। यह विनय ही श्रद्धाकी तीव्रतासे भक्तिका रूप धारण कर लेती है। भक्ति तल्लीनता है और तल्लीनतामें तन्मयता होती है, तभी तो चारित्रवान्‌में तल्लीन होनेसे हम तन्मय हो जाते हैं, अर्थात् वैसे ही चारित्रके धारक बन जाते हैं।

---

१. जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व होते हैं। देखिए, 'जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्' उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी, मथुरा, १।४, पृ० ५।

२. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं. २०१२, पृष्ठ ४४२।

३. 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० सुखलाल संघवी सम्पादित, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, काशी, सन् १९५२, द्वितीय संस्करण, १।२, पृष्ठ ५।

४. पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स।
जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्त विणओ सो॥
आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार : पं० हीरालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, अप्रैल १९५२, गाथा ३२३वीं, पृष्ठ ११४।

उपचार-विनय

अपनेसे बड़ोंके प्रति मन-वचन-कायसे विनम्र भाव दिखाना उपचार-विनय है। यह विनय केवल प्रत्यक्षमें ही नहीं, अपितु परोक्षमें भी की जानी चाहिए। आचार्य पूज्यपादने आचार्य उमास्वातिके उपचार-विनय[१]की व्याख्या करते हुए लिखा है, "प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वाभ्युत्थनाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसकीर्त्तनानुस्मरणादिः।"[२] अर्थात् आचार्य आदिके समक्ष आनेपर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचार-विनय है। आचार्य वसुनन्दिने मन, वचन और कायके भेदसे उपचार-विनयको तीन प्रकारका माना है। वे तीनों प्रकार भी प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।[३] आचार्यने इन भेदोंको स्पष्ट करनेके लिए छह गाथाओंका निर्माण किया है,[४] जिनका तात्पर्य है कि अपनेसे बड़ोंकी मन-वचन-कायसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपोंमें अभ्यर्थना करना उपचार-विनय है। आचार्य श्रुतसागरसूरिने भी कहा है, "आचार्योपाध्यायादिषु अध्यक्षेषु अभ्युत्थानं, वन्दना-विधानं, करकुड्मलीकरणं, तेषु परोक्षेषु सत्सु कायवाङ्मनोभिः करयोटनं गुणसंकीर्त्तनं अनुस्मरणं स्वयं ज्ञानानुष्ठायित्वञ्च उपचारविनयः।"[५] इसका अर्थ है, "आचार्य, उपाध्याय आदिको देखकर खड़े हो जाना, नमस्कार करना तथा उनके परोक्षमें परोक्ष-विनय करना, और उनके गुणोंका स्मरण करना आदि उपचार-विनय है।"[६]

---

१. 'ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः' उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी, ९।२३, पृ० २१५।

२. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं. २०१२, पृ० ४४२।

३ उवयारिओ वि विणओ मण-वचि-काएण होइ तिवियप्पो।
सो पुण दुविहो भणिओ पच्चक्ख-परोक्खभेएण॥
आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दि-श्रावकाचार : पं० हीरालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ३२५वीं गाथा, पृ० ११४।

४. देखिए वही : गाथा ३२६–३१, पृ० ११४–१५।

५. आचार्य श्रुतसागरसूरि, तत्त्वार्थवृत्ति : हिन्दी अनुवाद सहित, पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं० २००५, पृ० ३०४।

६. देखिए वही : हिन्दी अनुवाद, पृ०४९५।

विनयका फल

"विनयसे पुरुष शशाङ्कके समान उज्ज्वल यश:समूहसे दिगन्तको धवलित करता है। विनयसे वह सर्वत्र सुभग अर्थात् सब जगह सबका प्रिय होता है और तथैव आदेयवचन होता है, अर्थात् उसके वचन सब जगह आदरपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं। इस लोक और परलोकमें सुख देनेवाले उपदेश, गुरुजनोंकी विनयसे ही उपलब्ध होते हैं। संसारमें देवेन्द्र, चक्रवर्ती और माण्डलिक राजा आदिको जो सुख प्राप्त है, वह सब विनयका ही फल है। और इसी प्रकार मोक्षका सुख पाना भी विनयका ही परिणाम है। जब साधारण विद्या भी विनयरहित पुरुषके सिद्धि-को प्राप्त नहीं होती है, तो फिर मुक्तिको प्राप्त करनेवाली विद्या, विनय-विहीन पुरुषके सिद्ध हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती।"[1]

आचार्य श्रुतसागरने तत्त्वार्थवृत्तिमें लिखा है: "विनयके होनेपर ज्ञान-लाभ, आहारविशुद्धि और सम्यगाराधना आदि होती है।"[2]

६. मंगल

व्युत्पत्ति

मङ्गल शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य यतिवृषभने तिलोयपण्णत्तिमें लिखा है, "जो मलोंको गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है, उसे मंगल कहते हैं।"[3] आचार्य

---

१. आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दि-श्रावकाचार: पं० हीरालाल सम्पादित, भार-तीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००५, गाथा ३३२–३३५, पृष्ठ ११५–१६.

२. 'विनये सति ज्ञानलाभो भवति, आचारविशुद्धिश्च सञ्जायते, सम्यगारा-धनादिकञ्च पुमांल्लभते।'
आचार्य श्रुतसागरसूरि, तत्त्वार्थवृत्ति: पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००५, पृष्ठ ३०४।

३. गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं॥
आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति: प्रथम भाग, डॉ० ए० एन० उपाध्ये और डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९४३, १।९।

विद्यानन्दिने भी आप्त-परीक्षामें 'मलं गालयति मंगलम्'[1] स्वीकार किया है। महाकवि धनञ्जयने 'मं पापं गालयतीति मंगलम्'[2] कहकर उपर्युक्तका ही समर्थन किया है।

जैनाचार्योंने पापको ही मल माना है। आचार्य यतिवृषभने द्रव्य-मल और भाव-मल दोनों ही को पापरूप स्वीकार किया है, और उसे गलानेवालेको मंगल कहा है।[3] आचार्य विद्यानन्दिने लिखा है, "श्रेयोमार्गकी संसिद्धिमें विघ्न डालनेवाला पाप ही मल है। वह परमेष्ठीके गुण-स्तवनसे गलता है, अतः उस स्तवनको मंगल कहते हैं।"[4] कवि धनञ्जयने तो पापको स्पष्ट ही मल स्वीकार किया है।

मङ्गल शब्दकी दूसरी व्युत्पत्ति 'मंगं लातीति मंगलम्'[5] के रूपमें प्रतिष्ठित है। मंगका अर्थ है सुख, और सुखको लानेवाला मंगल कहलाता है। आचार्य यति-वृषभने भी मंगको सुख ही कहा है, और उसे लानेवालेको मंगल स्वीकार किया है। उनका कथन है, "अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा,"[6] अर्थात् जो सुखको लाता है, ग्रहण कराता है, वह मंगल है। मंगलके द्वारा आत्माका मल हट जाता है, और वह परम सुखका अनुभव करने लगती है। इस भाँति 'मलं गालयतीति मंगलम्' और 'मंगं लातीति मंगलम्' दोनों ही व्युत्पत्तियाँ समानार्थकी द्योतक हैं।

---

१. आचार्य विद्यानन्दि, आप्तपरीक्षा : पं० दरबारीलाल कोठिया सम्पादित-अनूदित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, सहारनपुर, १९४९, पृष्ठ ९।

२. महाकवि धनञ्जय, धनञ्जयनाममाला : अमरकीर्तिके भाष्यसहित, पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७, १९८वाँ श्लोक, पृष्ठ ९१।

३. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, शोलापुर, १।१०–१४।

४. मलं वा श्रेयोमार्गसंसिद्धौ विघ्ननिमित्तं पापं गालयतीति मंगलं तदिति, तदेतदनुकूलं नः, परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य परममङ्गलत्वप्रतिज्ञानात्।" आचार्य विद्यानन्दि, आप्तपरीक्षा : पं० दरबारीलाल सम्पादित, सरसावा, सहारनपुर, १९४९, पृष्ठ १०।

५. देखिए वही : पृ० ९।

६. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, शोलापुर, १।१५।

मंगलके भेद और उनकी परिभाषा

मंगलके छह भेद माने गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[1] पंचपरमेष्ठियोंके नाम लेनेको नाम-मंगल कहते हैं। सहस्रनाम नाम-मंगलमें ही शामिल है। तदाकार (मूर्ति, बिम्ब) और अतदाकार (भावरूपसे), दोनों ही रूपोंमें स्थापित्त किये गये भगवान्को, स्तुति आदि करना स्थापना-मंगल है। तीर्थ-क्षेत्रोंकी भक्तिको क्षेत्र-मंगल कहते हैं। भगवान्के विविध कार्योंसे पवित्र हुए कालकी स्मृतिमें पूजा आदि करना और महोत्सव मनाना काल-मंगल है। नन्दीश्वरद्वीप-सम्बन्धी पर्व इसीमें शामिल हैं। कर्म-मलसे रहित हुई शुद्ध आत्माका चिन्तवन करना, भाव-मंगल कहलाता है। भगवान्की शुद्ध आत्माके ध्यान करनेसे ध्याताकी आत्मा भी शुद्ध और निर्मल हो जाती है। समस्त मल गल जाते हैं, और अनन्त सुख प्राप्त होता है। अतः भाव-मंगल ही सर्व-श्रेष्ठ और श्रेयस्कर है।[2]

मंगलका प्रयोजन

मंगलके प्रयोजनपर विचार करते हुए आचार्य यतिवृषभने लिखा है, "शास्त्रके आदिमें मंगलके पढ़नेसे, शिष्य शास्त्रके पारगामी होते हैं, मध्यमें मंगलके उच्चारणसे विद्याकी निर्विघ्न प्राप्ति होती है और अन्तमें मंगलके पढ़नेसे विद्याका फल मिलता है।"[3] कार्य निर्विघ्न रूपसे समाप्त हो, यह ही मंगलका मुख्य प्रयोजन है। आचार्य यतिवृषभने लिखा है," शास्त्रोंके आदि, मध्य और अन्तमें किया गया जिन-स्तोत्ररूप-मंगलका उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे सूर्य अन्धकारको[4]।" दसवीं शताब्दीसे ही बीचमें मंगल लिखने या करनेकी प्रथा समाप्त हो गयी थी।

आचार्य[5] विद्यानन्दिने मंगलके प्रयोजनोंमें शिष्टाचार-परिपालन, नास्तिकता-परिहार और विघ्न-समाप्तिको गिनाया है। शिष्टाचार-परिपालनका अर्थ है

---

१. देखिए वही : १।१८।

२. देखिए वही : १।१९–२७, पृ० ३-४।

३. देखिए वही : १।२९।

४. देखिए वही : १।३१।

५. श्रीमद्विद्यानन्दि, आप्त-परीक्षा : पं० दरबारीलाल कोठिया सम्पादित, हिन्दी अनूदित, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, दिस० १९४९, पृष्ठ १०–११।

कि, मंगलके द्वारा गुरुओंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना। जिनकी महती कृपासे श्रुत-बोध करते-करते जीव शुद्ध आत्मा तकका साक्षात्कार कर लेता है, मंगलके रूपमें उनका स्मरण करना ही साधुत्वका चिह्न है। नास्तिकता-परिहारका भाव है कि, बड़ोंके आशीर्वादमें नास्तिकता-जन्य अविश्वासकी समाप्ति। परमेष्ठीके गुणोंका मंगलरूप स्तवन नास्तिकताके परिहारका पुष्ट-प्रमाण है। विघ्नोंकी समाप्तिका अर्थ है कि, निर्विघ्न रूपसे विद्या-सम्पन्न हो।

मंगलके पर्यायवाची

मंगलके पर्यायवाचियोंका निर्देशन करते हुए तिलोयपण्णत्तिमें लिखा है, "पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब मंगलके ही पर्याय अर्थात् समानार्थक शब्द कहे गये हैं।"[1]

धनञ्जयने मंगलके पर्यायवाचियोंमें क्षेम, कल्याण, श्रेयस्, भद्र, भावुक, भविक, भव्य, श्वोवसीय और शिवको गिनाया है। प्रत्येककी व्युत्पत्ति भी दी है।[2]

कतिपय प्राचीन मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥[3]

जैनोंका प्राचीनतम मंगलाचरण है। विद्यानुवाद नामके पूर्वका प्रारम्भ इसी

---

१. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, डॉ० उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, शोलापुर, १।८।

२. क्षिणोति क्लेशान् क्षेमम्, कल्यं नीरजस्त्वमनिति वा कल्याणम्, प्रकृष्टं प्रशस्यं श्रेयस्, भदते ह्लादते सुखी भवति अनेन भद्रम्, भवनशीलं भावुकम्, प्रशस्तो भवोऽस्यास्तीति भविकम्, श्वः शोभनञ्च वसीयः श्वोवसीयः, पुण्यकृतो भवितव्यं भवति भव्यम्, शीयते तनूक्रियते दुःखमनेन शिवम्।
कवि धनञ्जय, धनञ्जयनाममाला : अमरकीर्तिके भाष्यसहित, पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७, श्लोक १९८वाँ भाष्यसहित।

३. अरिहन्तोंको नमस्कार, सिद्धोंको नमस्कार, आचार्योंको नमस्कार, उपाध्यायोंको नमस्कार और सर्वसाधुओंको नमस्कार।

मंगलाचरणसे हुआ था। उपलब्ध साहित्यमें भगवंत पुष्पदन्त भूतबलिके षट्खंडागमका प्रारम्भ इसी मंगलाचरणसे हुआ है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द (पहली शताब्दी विक्रम) ने समयसारका प्रारम्भ भगवान् सिद्धके मंगलाचरणसे किया है—

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुड, मिणमोसुयकेवली भणियं॥[2]

आचार्य पूज्यपाद (छठीं शताब्दी पूर्वार्ध विक्रम) ने सर्वार्थसिद्धिका प्रारम्भ एक प्रसिद्ध मंगलाचरणसे किया है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये[3]॥

आचार्य अकलंकदेव[4] ने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर राजवार्त्तिक टीका लिखी थी, उसका प्रथम मंगलाचरण इस प्रकार है—

प्रणम्य सर्वविज्ञानमहास्पदमुरुश्रियम्।
निर्धूतकल्मषं वीरं वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्त्तिकम्॥[5]

---

१. भगवत् पुष्पदन्त भूतबलि, षट्खंडागम : वीरसेनाचार्यकी टीकासहित, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, वि० सं० १९९६।

२. ध्रुव, अचल और अनुपम गतिको प्राप्त हुए सब सिद्धोंको नमस्कार करके, श्रुतकेवलियोंके द्वारा कथित यह समयसार नामक प्राभृत कहूँगा।
आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार : पं० परमेष्ठीदास, हिन्दी अनुवादक, श्री पाटनी दिगम्बर जैन-ग्रन्थमाला, मारौठ (मारवाड़), फ़रवरी १९५३, पहली गाथा, पृ० ५।

३. मोक्षमार्गके नेता, कर्मरूपी पर्वतोंके भेदनेवाले और जो विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता हैं, उन जैसे गुणोंकी प्राप्तिके लिए मैं उनकी वन्दना करता हूँ।
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, हिन्दी अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, पहला श्लोक, पृ० १।

४. अकलंकदेवको पं० जुगलकिशोर मुख्तार सातवीं शताब्दी विक्रमका और 'जैन ग्रथ और ग्रन्थकार' के रचयिता श्री फतेहचन्द्र बेलानी आठवीं शताब्दी विक्रमका मानते हैं।

५. सर्वविज्ञानमय, बाह्य-आभ्यन्तर लक्ष्मीके स्वामी और परम वीतराग श्री महावीरको प्रणाम करके तत्त्वार्थवार्त्तिक ग्रन्थको कहता हूँ।
आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्त्तिक : पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, हिन्दी अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, जनवरी १९५३, पहला श्लोक।

अपभ्रंशके प्रसिद्ध ग्रन्थ परमात्म-प्रकाश[1]का प्रारम्भ भगवान् सिद्धकी स्तुतिसे हुआ है—

> जे जाया झाणग्गियए कम्म-कलंक डहेवि ।
> णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ॥[2]

अपभ्रंशके महाकवि पुष्पदन्त[3]ने जसहरचरिउके प्रारम्भमें भगवान् जिनेन्द्र-को नमस्कार करते हुए कहा है—

> तिहुवणसिरिकंतहो अइसयवंतहो अरहंतहो हयवम्महहो ।
> पणविवि परमेट्ठिहि पविमलदिट्ठिहि चरणजुयलणयसयमहहो ॥[4]

मुनि कनकामर[5]के 'करकंडुचरिउ'के पहले स्तवककी बारह पंक्तियाँ, भगवान् जिनेन्द्रके स्तवनसे भरी हुई हैं। उनमें पहली दो इस प्रकार हैं—

---

१. डॉ० ए० एन० उपाध्येने परमात्मप्रकाशके रचयिता योगीन्दुका समय ईसाकी छठी शताब्दी निर्धारित किया है। देखिए डॉ० ए० एन० उपाध्येका लेख, जोइन्दु एण्ड हिज अपभ्रंश वर्क्स, एनल्स ऑव भाण्डारकर ओरि-यण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, जिल्द १२, १९३१ ई०, पृ० १६१—६२।

२. जो भगवान् ध्यानरूपी अग्निसे पहले कर्मरूपी मलको भस्म करके नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं, उन सिद्धोंको नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूँ।
श्रीमद् योगीन्दुदेव, परमात्मप्रकाश : डॉ० ए० एन० उपाध्ये सम्पादित, पं० जगदीशचन्द्र, हिन्दी अनूदित, परमश्रुत प्रभावक-मण्डल, बम्बई, १९९२ वि० सं०, पहली गाथा, पृ० ५।

३. पं० नाथूराम प्रेमीने पुष्पदंतका साहित्यिक काल शक संवत् ८८१—८९४ निर्धारित किया है।
पं० नाथूराम प्रेमी, जैन-साहित्य और इतिहास : नवीन संस्करण, हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, अक्टूबर १९५६, पृ० २५०।

४. तीनों लोकोंमें जिनकी कान्ति फैल रही है, जो अतिशयवन्त हैं और जिन्होंने कर्मोंको नष्ट कर दिया है, ऐसे भगवान् अरहंतको प्रणाम करके मैं विमल दृष्टिवाले परमेष्ठीके चरणोंमें प्रणत होता हूँ।
पुष्पदंत, जसहरचरिउ : डॉ० पी० एल० वैद्य सम्पादित, जैन पब्लिकेशन सोसाइटी कारंजा, बरार, पहले स्तवककी प्रथम दो पंक्तियाँ।

५. डॉ० हीरालाल जैनने लिखावटके आधारपर मुनि कनकामरका समय ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी निर्धारित किया है।
डॉ० हीरालाल जैनका लेख, अपभ्रंश भाषा और साहित्य : काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक ३-४, पृ० ११४।

मणमारविणासहो सिवपुरिवासहो पावतिमिरहरदिणयरहो।
परमप्पयलीणहो विलयविहीणहो सरमि चरणु सिरि जिणवरहो।[1]

भगवज्जिनसेनाचार्य (वि० ९वीं शताब्दी) ने अपने महापुराणके प्रारम्भिक १८ श्लोकोंमें मंगलाचरण किया है। पहला श्लोक देखिए—

श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे।
धर्मचक्रभृते भर्त्रे नमः संसारभीमुषे॥[2]

श्री नेमिचन्द्राचार्य (वि. ११वीं शताब्दी) ने गोम्मट्टसार कर्मकाण्डका प्रारम्भ भगवान् नेमिनाथ के नमस्कारसे किया है—

पणमिय सिरसा णेमिं गुणरयणविभूसणं महावीरं।
सम्मत्तरयणणिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं॥[3]

७. महोत्सव

नृत्य, गायन, वादन, नाटक, रास और रथ-यात्रा आदि सब कुछ भक्तके भावोंकी अभिव्यक्ति है। आराध्यके गुणोंपर रीझे भाव जब बाहर निकलना चाहते हैं, तो वे ऐसे ही कतिपय मार्गोंका सहारा लेते हैं। प्राचीन जैन-भक्तोंके भावोंका प्रस्फुटन इन रूपोंमें भी हुआ है।

---

१. कामदेवका विनाश करनेवाले, शिवपुरीमें रहनेवाले पापरूपी अन्धकारके लिए सूर्यके समान, परमात्म-पदमें लीन और मौतको जीतनेवाले श्री जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंका मैं सदैव स्मरण करता हूँ।
कनकामर, करकंडुचरिउ : डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, वि० सं० १९९१, पहले स्तवककी दो पंक्तियाँ।

२. जो अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरंग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरंग लक्ष्मीसे युक्त हैं, जिन्होंने समस्त पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानरूपी साम्राज्यका पद प्राप्त कर लिया है, जो धर्मचक्रके धारक हैं, लोकत्रयके अधिपति हैं और संसारका भय नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे श्री अर्हन्तदेवको हमारा नमस्कार है।
भगवज्जिनसेनाचार्य, आदिपुराण : प्रथम भाग, पं० पन्नालाल सम्पादित, हिन्दी अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि०सं० २००७, पहला श्लोक।

३. गुणरूपी रत्नोंसे विभूषित, शक्तिशाली, सम्यक्त्वरूपी रत्नके निलय, भगवान् नेमिनाथको सिरसे प्रणाम करके मैं, कर्मोंकी प्रकृति कहूँगा।
नेमिचन्द्राचार्य, गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड : श्री जुगमन्दरलाल जैनी सम्पादित, अजिताश्रम लखनऊ, सन् १९२७, पहली गाथा।

जन्मोत्सवपर इन्द्रका नृत्य

तीर्थंकरके जन्म-दिवसपर जन्मोत्सव मनानेका रिवाज़ उतना ही प्राचीन है, जितना तीर्थंकरोंका इतिहास। इतिहासज्ञोंने, २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथका समय, ईसासे ८५० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है।[1] अतः जन्मोत्सव इतना पुराना तो माना ही जा सकता है।

उपलब्ध साहित्यमें विमलसूरि (वि० सं० ६०[2]) का 'पउमचरिय' सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें तीर्थंकरके जन्मोत्सवका वर्णन है। रविषेण (वि० सं० ७३३) के पद्मचरित,[3] स्वयम्भू (आठवीं शताब्दी ईसवी) के पउमचरिउ,[4] आचार्य जिनसेन (८००-८८० ईसवी) के हरिवंशपुराण,[5] भगवज्जिनसेनाचार्य (९वीं शताब्दी विक्रम) के आदिपुराण[6], गुणभद्राचार्य (९वीं शताब्दी विक्रम)

---

१. Jacobi S. B. E. Vol. XLV. p. 122.

and

Cambridge History of India, Vol. I. E. J. Rapson Edited, S. Chand and Co, Delhi, 1955, p. 137.

and

The Age of Imperial Unity, R. C. Majumdar Edited, Bhartiya VidyaBhavan, Bombay, Second Edition, 1953, p. 411.

२. पंचेव वासया दुसमाए तीसवरससंजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुवगए तओ निवद्धं इमं चरियं॥
विमलसूरि, पउमचरिय : जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर, डॉ० याकोबी सम्पादित, १९१४ ई०, १०३वाँ पद्य।

३. द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धं चतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्कर-वर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निवद्धम्॥
रविषेण, पद्मचरित : माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १८५वाँ श्लोक।

४. श्री देवेन्द्रकुमार जैनके हिन्दी अनुवादसहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशीसे तीन भागोंमें प्रकाशित हुआ है।

५. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, संख्या ३२, ३३ पर, पं० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, साहित्यरत्नके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है।

६. यह पुराण दो भागोंमें, पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्यके सम्पादन और हिन्दी-अनुवादके साथ, भारतीय ज्ञानपीठ, काशीसे, वि० सं० २००७ में प्रकाशित हुआ है।

के उत्तरपुराण[1], और पुष्पदन्त (१०वीं शताब्दी ईसवी)के महापुराण[2] में तीर्थंकरोंके जन्मोत्सवका विशद वर्णन हुआ है।

इस अवसरपर इन्द्र; इन्द्राणी और अन्य देवताओंके साथ स्वर्गसे आता है, और बाल-भगवान्को जन्माभिषेकके लिए पाण्डुक शिलापर ले जाता है। लौट आनेपर वह ताण्डव-नृत्य करता है। विक्रियाऋद्धिसे बनाये गये सहस्र-हाथ, उसके नृत्यमें सहायक होते हैं। चंचल हाथोंवाला वह इन्द्र ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सहस्रों हिलती शाखाओंसे युक्त कल्पवृक्ष ही हो।[3] उसकी एक-एक भुजापर एक-एक अप्सरा नृत्य करती है।[4]

जैन-उत्सवोंमें नाटकोंका आयोजन

जन्मोत्सवके अवसरपर इन्द्र नाटकका आयोजन भी करता है। उसमें भगवान्के गर्भावतरण और जन्म-सम्बन्धी कथानकोंका अभिनय होता है।[5]

भगवान्के समवसरणकी रचनामें नाट्यशालाओंका भी निर्माण किया जाता है। गोपुर-दरवाज़ोंके भीतर, चौड़े रास्तेके दोनों ओर, दो नाट्यशालाएँ होती हैं, इस भाँति चारों दिशाओंमें आठ नाट्यशालाएँ बनती हैं। प्रत्येक नाट्यशाला तीन खण्डकी होती है, और उसके बड़े बड़े खम्भ स्वर्णके बने हुए होते हैं, उनकी भित्तियोंमें स्फटिक मणि और शिखरोंमें रत्न जड़े होते हैं। इन नाट्यशालाओंमें देवकन्याएँ नृत्य करते हुए, भगवान्के विजय-गीत गाती हैं।[6]

यशपाल मोढ़ (१२वीं शताब्दी ईसवी) ने मोहपराजय नाटककी रचना की थी। यह एक रूपक है। इसमें सम्राट् कुमारपालके जैनधर्ममें दीक्षित होने, पशुहिंसापर प्रतिबन्ध लगाने और निःसन्तान मरनेवालोंकी सम्पत्ति हस्तगत कर-लेनेकी कथा, रूपकके द्वारा उपस्थित की गयी है। यह नाटक कुमार-विहारमें

---

१. पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्यके सम्पादन और हिन्दी-अनुवादसहित भारतीय ज्ञानपीठ, काशीसे, वि० सं० २०११ में प्रकाशित हो चुका है।
२. तीन भागोंमें, डॉ० पी० एल० वैद्यके सम्पादनमें माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बईसे, १९३७–४१ ईसवीमें निकल चुका है।
३. भगवज्जिनसेनाचार्य, आदिपुराण : प्रथम भाग, पं० पन्नालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७, १४।१२४।
४. देखिए वही : १४।१३२।
५. देखिए वही : १४।१०३।
६. यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, डॉ० उपाध्ये और डॉ० जैन सम्पादित, शोलापुर, ४।७५६–६०।

भगवान् महावीरकी मूर्तिकी स्थापनाके अवसरपर खेला गया था।[1] कुमारपालने कुमार-विहारका निर्माण और प्रतिष्ठा, गुरु हेमचन्द्रसे वि० सं० १२१६ में जैन धर्मकी दीक्षा लेनेके उपरान्त करवायी थी।[2]

आचार्य यतिवृषभने लिखा है कि भवनवासी देव जन्म-ग्रहणके पश्चात्, अन्तर्मुहूर्त्तमें ही जिनालयोंमें जाते हैं और भगवान्की पूजाके उपरान्त श्रेष्ठ अप्सराओंसे युक्त होकर विविध नाटक करते हैं।[3]

राजस्थानीय अभिनेता और रास

धर्मोत्सवोंपर नाटक खेलनेवाली नाटय-कम्पनियाँ राजस्थानमें बहुत थीं। बारहवीं शताब्दीमें विरचित खरतरगच्छ पट्टावलीके आधारपर विदित है कि उस समय जैनोंमें रास-नाटकोंके अभिनयकी अधिकता थी। किन्तु जैन अभिनेताओंकी मनोवृत्तियोंमें भक्तिके स्थानपर उच्छृंखलता बढ़ने लगी थी। आचार्य जिन-वल्लभसूरि–जिनकी मृत्यु वि० सं० ११६७ में हुई–ने जैनमन्दिरोंमें लगुड़-रास और ताल-रासको वर्जित घोषित किया था।[4] इन रासोंके अभिनेताओंकी चेष्टाएँ अधिकतर विटोंकी-सी होतीं, कभी-कभी प्रमादवश सिरमें चोट लग जाती, और पाठ भी दुष्ट होता था।[5] सप्तक्षेत्रीराससे प्रकट है कि ये दोनों रास, विक्रमकी चौदहवीं शताब्दी तक प्रचलित तो रहे[6] किन्तु यत्किञ्चित् रूप में, शनैः-शनैः समाप्त हो गये।[7]

---

१. श्री लक्ष्मीशंकर व्यास, चौलुक्य कुमारपाल : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४ ईसवी, पृष्ठ ३३।

२. देखिए वही : पृ० ४०।

३. यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, डॉ० उपाध्ये और डॉ० जैन सम्पादित, शोलापुर, पृ० २४-२५।

४. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास : हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालयके तत्त्वावधानमें प्रकाशित, अध्याय ४, पृ० ७०।

५. अपभ्रंश काव्यत्रयी : लालचन्द्र गाँधी सम्पादित, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, सं० ३७, बड़ौदा, १९२७ ईसवी, पृष्ठ १२ और ४७।

६. इस रासका निर्माण सं० १३२७ में हुआ था। यह प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह : गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, सं० १३, १९२० ई०, में संगृहीत है।

७. श्री अगरचन्द नाहटा, प्राचीन भाषा काव्योंकी विविध संज्ञाएँ : काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४, सं० २०१०।

इनके अतिरिक्त और सैकड़ों रास थे, जो संयमपूर्वक खेले जाते रहे। उनमें भरतेश्वर बाहुबलि रास, समरसिंह रास, गय-कुमाररास,[1] नेमिरास और अम्बादेवी रास बहुत प्रसिद्ध हैं। जम्बूस्वामी-चरितमें लिखा है कि अम्बादेवी रासका अभिनय जिन-सेवकों-द्वारा जैन-मन्दिरोंमें समय-समयपर प्रदर्शित किया जाता था।[2]

रथ-यात्रा महोत्सव

भारतवर्षमें रथोंका प्रचलन बहुत प्राचीन है। जब ईंट-पत्थरोंके बने मन्दिर नहीं थे, तब काष्ठ-निर्मित ये रथ ही चलते-फिरते मन्दिर थे। डॉ० ए० के० कुमारस्वामीने उनको Processional-car[3] और डॉ० ए० वेङ्कटराम नैय्या ने Temple-car कहा है। महाबलीपुरम् के मन्दिरोंको आज भी रथ ही कहा जाता है।[4] द्राविड़ मन्दिरोंको विमान संज्ञासे अभिहित किया गया, वह भी रथके अनुकरणवाली ही बात थी।[5]

---

१. इसकी खोज श्री अगरचन्दजी नाहटाने, जैसलमेरमें की है। उन्होंने इसका रचनाकाल सं० १३०० के समीप माना है।

२. चंचरिय बांधि विरहउ सरसु, गाहज्जइ संतिउ तारू जसु।
नच्चिज्जइ जिणाजय सेवकहि, विउ रासउ अम्बादेवयहिं ॥
जम्बूस्वामीचरिउ : संधि १, डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास : पृ० ५३८ से उद्धृत।

३. The vesemblance of the Aryavarta sikhara to the bamboo scaffolding of a processional-car is too striking to be accidental.
Dr. A. K. Kumarswami, Arts and Crafts, pp. 118–119.

४. The temple-cars, it must be remembered, are called rathas, 'cars,' it is by this term that the monolithic temples at Mahabalipuram are generally known.
Dr. N. Venkata Rama Nayya, Essay on the origin of the south Indian temples, Methodist Publishing house, Madras, 1930, p. 64.

५. While the term "vimana" applied to later Dravidian temples, has originally the same sense of 'vehicle' or 'moving palace'.
Dr. A. K. Kumarswami; Arts and Crafts. p. 119.

भारतका सबसे प्राचीन मन्दिर, कङ्काली टीलेकी खुदाइयोंमें प्राप्त मथुराका जैन मन्दिर है। यह ईसासे १५० वर्ष पूर्व बना था।[1] जैनोंमें भी चलते-फिरते रथोंका प्रचलन रहा होगा, तभी तो उसके अनुकरणपर, ठीक वैसे ही मन्दिरका निर्माण हो सका।

मन्दिर बननेके बाद भी 'Temple-car' की स्मृतिमें रथ-यात्रा महोत्सव मनाये जाते रहे। सम्राट् खारवेल (दूसरी शताब्दी पूर्व ईसवी[2]) नन्दोंके द्वारा ले जायी गयी 'कलिंग-जिन'की मूर्तिको जीतकर वापस लाया।[3] वह वापसीकी यात्रा रथ-यात्रा ही थी। भगवान्की मूर्तिको रथमें प्रतिष्ठित किया और नृत्य-गायन आदिके साथ कलिंग तकका मार्ग हर्षोल्लासमें बीता।[4] उस मूर्त्तिको विद्याधरोंसे कोरे गये और आकाशको छूनेवाले एक मन्दिरमें स्थापित किया गया था।[5]

---

१. Prof V. A. Smith, the Jain stupa and other antiquities of Mathura, Introduction, p. 3.

२. Prof. V. A. Smith, Early History of India, Oxford, 1908, p. 38, N.1, श्री एन. एन. घोषने खारवेलका जन्माभिषेक १९ वर्ष, ईसवी पूर्व माना है।
देखिए जैनसिद्धान्तभास्कर : भाग १६, किरण २ (दिसम्बर १९४९), पृ० १४२।

३. नन्दराज नीतानि अग जिनस·······नग मह रतन पडिहारेहि अंग मागधे वसवु नेयाति।
हाथीगुम्फ शिलालेख : १२वीं पंक्ति, देखिए, प्रोफ़ेसर खुशालचन्द जैन, कलिंगाधिपति खारवेल: जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण २, दिस० १९४९, पृ० १३४।

और

Dr. Boolchand Jain, Jainism in Kalingadesa, Jain cultural Research Society, Banaras Hindu University, Bulletin No. 7, p. 10.

४. पं. सुमेरचन्द जैन, सम्राट् खारवेल : दिल्ली, पृष्ठ २८।

५. विजाधक लेखिलं वर्णन सिहरानि निवेसयति सतवस दान परिहारेन अभूतम करियं च हथी नादात परिहार·······आहारापयति इधं सतस। हाथीगुम्फशिलालेख : १३वीं पंक्ति, पं. सुमेरचन्द, सम्राट् खारवेल: दिल्ली, पृष्ठ ४८पर निबद्ध, हिन्दी अनुवादसहित।

श्री हरिषेणाचार्य (१०वीं शताब्दी विक्रम[1])के बृहत्कथाकोशकी १२, ३३, ५६, ५७, ६३, ११५, १३४ और १३९वीं कथाओंमें विविध रथ-यात्राओं-का वर्णन है। उनमें प्रायः बौद्ध रथ-यात्राओंके साथ संघर्षकी कहानी है। श्री हेमचन्द्राचार्य (जन्म ११४५, मृत्यु १२२९ वि० सं०) ने अपने महावीर-चरित्रमें उस रथ-यात्रा-महोत्सवका वर्णन किया है, जिसे सम्राट् कुमारपालने सम्पन्न करवाया था।[2] यशपाल मोढ़ (१२वीं शताब्दी ईसवी) के 'मोह-पराजय'में कुमारपालकी रथ-यात्रा-महोत्सव मनानेकी आज्ञाका उल्लेख है।[3] श्री सोमप्रभाचार्यके कुमारपालप्रतिबोध (११८५ ईसवी) में तो इस महोत्सवका विशद वर्णन है।[4]

जैनोंके अन्य महोत्सव

जैनोंके विविध शास्त्रोंमें इन्दमहा, खंडमहा, रुद्दमहा, मुकुन्दमहा, सिवमहा, कुबेरमहा, नागमहा, जक्खमहा, भूतमहा, अज्जमहा और कोट्टक्रियामहाका

---

१. बृहत्कथाकोश : डॉ० ए. एन. उपाध्ये सम्पादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला (सं. १७), भारतीय विद्याभवन, बम्बई, भूमिका, पृ० १२२।

२. प्रतिग्रामं प्रतिपुरमासमुद्रं महीतले।
रथयात्रोत्सवं सोऽर्हत्प्रतिमानां करिष्यति।
हेमचन्द्राचार्य, महावीरचरित्र : सर्ग १२, श्लोक ७६वाँ।

३. भोः भोः पौराः महाराज श्रीकुमारपालदेवो युष्मानाज्ञापयति। यज्जिनरथ-यात्रामहोत्सवो भविष्यति। ततः
पौराः कुर्युर्विपणिपदवीमस्तपांशुं पयोभिः,
मुक्ताहारै रुचिरवसनैर्हट्टशोभां विदध्युः।
स्थाने स्थाने कनककलशान् स्थापयेयुर्भवन्तः,
पण्डस्त्रीभिः सुरगृहसखान् मञ्चकान् भूषयेयुः॥
यशपाल, मोहपराजय : गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, संख्या ९, बड़ौदा, १९१८, चतुर्थ अंक, १९वाँ श्लोक।

४. प्रेङ्खन्मण्डपमुल्लसद्ध्वजपटं नृत्यद्वधूमण्डलं
चञ्चन्मञ्चमुदञ्चदुच्चकदलीस्तम्भं स्फुरत्तोरणम्।
विष्वग्जैनरथोत्सवे पुरमिदं व्यालोकितुं कौतुका-
ल्लोकानेत्रसहस्रनिर्मितकृते चक्रुर्विधे प्रार्थनाम्॥
सोमप्रभाचार्य, कुमारपालप्रतिबोध : मुनि जिनविजय सम्पादित, बड़ौदा, सं. ९, १९२० ई०, पृ० १७५।

उल्लेख हुआ है।[१] इनमें-से मुकुन्दमहा, सिवमहा और कोट्टक्रियामहाका जैन-भक्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य 'महा' जैन भक्तिसे सम्बन्धित हैं। और उनका विशद वर्णन हुआ है। निशीथचूर्णिमें लिखा है कि इन्दमहा, खंडमहा, जक्खमहा और भूयमहा क्रमशः आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन और चैत्र मासकी पूर्णिमाकी रातको मनाये जाते थे। उनका पूरा कार्य-क्रम नृत्य और गायनके विविध आयोजनोंसे भरा रहता था।[२]

आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुनके अन्तिम आठ दिन नन्दीश्वर पर्वके दिन माने जाते हैं। वृहत्कथाकोशकी भूमिकामें डॉ. ए. एन. उपाध्येने लिखा है कि नन्दीश्वर पर्वको कौमुदी-महोत्सव भी कहते हैं। इस पर्वके आठवें दिन अर्थात् पूनोंको रथ-यात्राका प्रचलन था। उसी रातको अन्य मतावलम्बियोंकी भाँति जैन भी उत्सव मनाते थे।[३]

जैनोंके 'उवासगदसाओ'में भूतमाता महोत्सवका विशद वर्णन है। इसी ग्रन्थमें एक पिशाचका भी उल्लेख है।[४] भगवती सूत्रमें लिखा है कि जैन-लोग स्वर्ग-गत किसी महात्माके सम्मानमें स्तूपमह और चैत्यमह मनाते थे। उनमें रुक्खमह, गिरिमह, दरिमह, नदिमह और सागरमह आदिका भी प्रचलन था। इन उत्सवों-से वे प्रकृतिके प्रति अपना सम्मान दिखाते थे।[५]

जैनाचार्य हरिषेणने अपने वृहत्कथाकोशमें विंध्यदेवीकी उत्पत्ति और उसकी स्मृतिमें मनाये जानेवाले नृत्य-गीतोंका उल्लेख किया है। विंध्यदेवी यशोदाकी

---

१. Nayadhammakaha, N. V. Vaidya Edited, Poona, 1940, chapter 8, p. 100. और भगवती : बेचरदास भगवानदास सम्पादित, जिनागमप्रकाश सभा, अहमदाबाद, वि. सं. १९७९-१९८८, ३।१. और Dr. J. C. Jain, Life in Ancient India as depicted in the Jain canons, Bombay, 1947, P. 265.

२. जिनदासगनी, निशीथचूर्णि : विजयप्रेमसूरीश्वर सम्पादित, वि. सं. १९९५, १९।११७४।

३. हरिषेणाचार्य, बृहत्कथाकोश : डॉ. ए. एन. उपाध्ये सम्पादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, भूमिका, पृ० ८५।

४. श्रीमन्मथराय, हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव : साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५३ ईसवी, पृष्ठ ५० से उद्धृत।

५. भगवती (भगवती सूत्र) : बेचरदास भगवानदास सम्पादित, जिनागम-प्रकाश सभा, अहमदाबाद, वि. सं. १९७९-१९८८, ९।३३।

वह लड़की थी जिसके साथ कृष्णकी अदला-बदली हुई थी। इस लड़कीका पालन-पोषण देवकीने किया था। सयानी होनेपर यह जैन हो गयी, और राजमहलसे निकलकर एक झुण्डके साथ विन्ध्यपर्वतपर पहुँच गयी। वहाँ उस लड़कीको, ध्यान मुद्रामें बैठी हुई देखकर, भीलोंने देवी मान लिया, और पूजा-अर्चा की। कुछ समयोपरान्त उसे एक सिंह खा गया। उसकी स्मृतिमें मेला लगने लगा[1] और आज भी लगता है। पंचकल्याण और प्रतिष्ठामहोत्सव तथा इन्द्रमहा आदिकी बात आगेके अध्यायोंमें यथाप्रसङ्ग कही जायेगी।

---

१. हरिषेणाचार्य, बृहत्कथाकोश : डॉ० ए. एन. उपाध्ये सम्पादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, १०६वीं कथा।

: ३ :

जैन-भक्तिके भेद

जैनाचार्योंने भक्तिके बारह भेद स्वीकार किये हैं। वे इस प्रकार हैं—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति और चैत्यभक्ति।[1] तीर्थंकर और समाधिभक्तिका पाठन एक-दो अवसरोंपर ही होता है, अतः उनका अन्य भक्तियोंमें अन्तर्भाव मान लिया गया है।[2] इस भाँति दश-भक्तियोंकी ही मान्यता है।

इन भक्तियोंकी रचना आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रमकी पहली शताब्दी) ने प्राकृत भाषामें और आचार्य पूज्यपाद (विक्रमकी छठी शताब्दी) ने संस्कृत भाषामें की है।[3] सभीपर आचार्य प्रभाचन्द्र (विक्रमकी दसवीं शताब्दी) की

---

१. 'दशभक्तिः' नामके ग्रन्थमें; इन भक्तियोंका संकलन हुआ है। यह ग्रन्थ सन् १९२१ में शोलापुरसे प्रकाशित हो चुका है। इसमें आचार्य प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथका मराठी अनुवाद भी दिया गया है।

और

'दशभक्त्यादिसंग्रहः' नामका दूसरा ग्रन्थ : श्रीसिद्धसेन जैन गोयलीयके सम्पादनमें, सलाल, (साबरकाँठा), गुजरातसे, वीर निर्वाण संवत् २४८१ में प्रकाशित हुआ है। इसमें आचार्य पूज्यपादकी संस्कृत-भक्तियों का सान्वय हिन्दी-अनुवाद दिया है।

२. या दोन भक्तींचा एक दोन क्रिये मध्यें च उपयोग होतो यास्तव ग्रंथकारानी या दोन भक्तींचा वर सांगितलेल्या भक्ती मध्यें च अंतर्भाव करून 'दशभक्ति' हें ग्रन्थाचें नांव ठेविलें आहे।
देखिए दश-भक्ति : शोलापुर, सन् १९२१ ई०, जिनदास पार्श्वनाथ कृत प्रस्तावना, पृ० १।

३. "संस्कृताः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।" देखिए, प्राकृतसिद्धभक्ति : संस्कृत टीका (प्रभाचन्द्राचार्यकृत), दशभक्ति : शोलापुर, सन् १९२१ ई०, पृ० ६१।

लिखी हुई संस्कृत टीका उपलब्ध है। कहा जाता है कि चैत्यभक्तिकी रचना गौतमस्वामीने की थी[1], जो तीर्थंकर महावीरके प्रमुख गणधर थे। उनका समय विक्रमसे चार सौ सत्तर वर्ष पूर्व माना जाता है।[2]

१. सिद्धभक्ति

'सिद्ध'का स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है, "आठ कर्मोंसे रहित, आठ गुणोंसे युक्त, परिसमाप्तकार्य और मोक्षमें विराजमान जीव सिद्ध कहलाते हैं।[3]" आठ कर्मोंका नाश किये विना तो कोई भी सिद्धपद नहीं पा सकता। आचार्य पूज्यपादका कथन है कि आठ कर्मोंके नाशसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है, उसे ही सिद्धि

---

१. "श्रीवर्धमानस्वामिनं प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी जयति भगवानित्यादि स्तुतिमाह"

देखिए, चैत्यभक्तिका प्रारम्भ : श्रीप्रभाचन्द्राचार्यकृत, 'दश-भक्ति', शोलापुर, सन् १९२१ ई०, पृ० २९४।

और

ततश्च जयति भगवान् इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा कच-लोचनान्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धिसम्पन्नास्त्रयोऽपि (गौतम-अग्निभूत-वायुभूतनामानः) गणधरदेवाः संजाताः। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाङ्गश्रुतरचनां कृतवान्।

देखिए, नेमिचन्द्राचार्य, बृहद्द्रव्यसंग्रह : कुमार देवेन्द्रप्रसादजीकी अँगरेजी टीका और प्रस्तावनासहित, आरा, ४१वीं गाथाकी ब्रह्मदेव (१२वीं शती ईसवी) की संस्कृत टीका।

२. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैनसाहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश : वीरसेवामन्दिर, सरसावा, सहारनपुर, जुलाई १९५६, पृ० ३९-४०।

३. अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं॥

दशभक्ति : प्रभाचन्द्राचार्यकी संस्कृत टीकासहित, पं० जिनदास पार्श्वनाथके मराठी अनुवाद युक्त, तात्या गोपाल शेटे प्रकाशित, शोलापुर १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, सिद्धभक्ति : पहली गाथा पृ० ४६।

कहते हैं, और ऐसी सिद्धि करनेवाला ही सिद्ध कहलाता है।[1] पं० आशाधरने 'सिद्ध'की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है, "सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः संजाता यस्येति सिद्धः"[2], अर्थात् स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि जिसको प्राप्त हो गयी है, वह ही सिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्दका 'परिसमाप्तकार्य' इसी स्वात्मोपलब्धिरूप कार्यको पूरा करनेकी बात कहता है। आचार्य यतिवृषभने भी 'अट्ठविहकम्मवियला'से आठ कर्मोंके क्षय होने, और 'णिट्ठियकज्जा'से स्वात्मोपलब्धिरूप कार्यको पूरा करनेका ही निर्देश किया है।[3] श्रीयोगीन्दुने भी शुक्ल ध्यानसे अष्टकर्मोंका नाश करके मोक्ष-पद पानेवालेको ही सिद्ध कहा है।[4] उन्होंने शुद्ध स्वात्मा और मोक्षमें स्थित रहनेवाले सिद्धमें यत्किञ्चित् भी भेद नहीं माना।[5] अतः वे भी स्वा-

---

१. सिद्धानुद्धतकर्मप्रकृतिसमुदयान्साधितात्मस्वभावान्
वन्दे सिद्धिप्रसिद्ध्यै तदनुपमगुणप्रग्रहाकृष्टितुष्टः।
सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादिदोषापहाराद्
योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः॥
देखिए वही : आचार्य पूज्यपाद, सिद्धभक्ति : पहला श्लोक पृ० २७।

२. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : स्वोपज्ञवृत्ति और श्रुतसागर सूरिकी टीका सहित, पं० हीरालाल जैन सम्पादित, हिन्दी-भाषा अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१०, १०।१३९ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० १३९।

३. अट्ठविहकम्मवियला णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा।
दिट्ठसयलत्थसारा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥
आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : पहला भाग, डॉ० ए० एन० उपाध्ये और डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, पं० बालचन्द्र हिन्दी अनूदित, जैन संस्कृतिसंरक्षक संघ, शोलापुर, जीवराजग्रन्थमाला, १९४३ ई०, पहला श्लोक।

४. झाणें कम्म-क्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु।
जिणवरदेवइँ सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु॥
श्री योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री ब्रह्मदेवकी संस्कृत वृत्ति और पं० दौलतरामकी हिन्दी-टीका युक्त, श्री ए० एन० उपाध्याय सम्पादित, परम-श्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, नयी आवृत्ति, १९३७ ई०, २।२०१, पृष्ठ ३३८।

५. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ॥
देखिए वही : १।२६, पृ० ३३।

त्मोपलब्धि और सिद्धिको एक ही स्वीकार करते हैं।

सिद्ध निराकार होते हैं। श्री योगीन्दुने उन्हें, 'निष्कल' कहा है। निष्कलकी व्याख्या करते हुए श्री ब्रह्मदेवने 'निष्कलः पञ्चविधशरीररहितः', लिखा है।[1] अर्थात् औदयिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर[2] जिसके नहीं हैं, वह निराकार परमात्मा कहलाता है। तत्त्वसारदूहामें भी सिद्धको अशरीरी कहा है। किन्तु उसीमें सिद्धके लिए 'साकार' और 'निराकार' दोनों ही विशेषणोंका प्रयोग हुआ है।[3] यहाँ साकारका अर्थ है—अनन्त गुणोंसे युक्त और निराकारसे तात्पर्य है स्पर्श, गन्ध, वर्ण और रससे रहित। आचार्योंने सिद्धके अनन्त गुणोंको सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध नामके आठ भागोंमें बाँट दिया है।[4]

सिद्ध जीव लोकाग्रशिखरके ऊपर रहते हैं। उसीको किसीने मोक्ष, किसीने सिद्धशिला और किसीने सिद्धपुरी कहा है। आचार्य कुन्दकुन्दने उसको 'लोयग्गणिवासिणो',[5] श्री योगीन्दुने 'णिव्वाणि वसंति'[6] श्री नेमिचन्द्राचार्यने 'लोयसिह-

---

१. एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिँ जो परु णिक्कलु देउ।
सो तहिँ णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ॥
देखिए वही : १।२५, ब्रह्मदेवकी संस्कृत टीकासहित, पृ० ३२।

२. औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि॥
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी, मथुरा, वीर-नि० सं० २४७७, २।३६, पृ० ५४।

३. असरीरा जीवघणा उवजुत्ता दंसणे य णाणे य।
सायारमणायारो लक्खणमेयं तु सिद्धाणं॥
तत्त्वसार : ब्र० शीतलप्रसादजी कृत हिन्दी टीकासहित, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, ७२वां दोहा।

४. संमत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वाबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, सिद्धभक्ति : पृष्ठ ६९।

५. अट्ठगुणाः किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, कुन्दकुन्द, सिद्धभक्ति : पृ० ६७।

६. ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे णिव्वाणि वसंति।
णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति॥
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री ए० एन० उपाध्याय सम्पादित, परमश्रुत-प्रभावकमण्डल, बम्बई, १९३७, १।४, पृ० १०।

रत्थो',[१] श्री सोमदेवने 'लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः'[२] और मुनिश्री रामसिंहने 'सिद्धमहापुरिजाइयइ'[३] कहा है। सिद्ध जीव अपने संसारके अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून होकर वहाँ ठहरते हैं।[४]

सिद्ध जीवोंको जो सुख मिलता है, वह तो अनिर्वचनीय है। इसीको कुन्द-कुन्दने अतिशय, अव्याबाध, अनन्त, अनुपम, इन्द्रियविषयातीत, अप्राप्त और अच्यवन कहा है।[५] सिद्धोंका सुख शाश्वत होता है, क्षणिक नहीं। श्री योगीन्दुने उसको 'सासय-सुक्ख-सहाउ' लिखा है।[६] सिद्धका तो स्वभाव ही परमानन्द रूप

---

१. पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो।
आचार्य नेमिचन्द्र, लघुद्रव्यसंग्रह : पं० भुवनेन्द्र सम्पादित-हिन्दी अनूदित, जिनवाणीप्रचारकेकार्यालय, कलकत्ता, वी० नि० सं० २४६२, विक्रम सं० १९९२, ५१वीं गाथा, पृ० ३९।

२. कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये
ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः॥
K. K. Handiqui, Yasastilaka and Indian Culture, Jain Samskriti Samrakshaka Sangha, Sholapur, 1949, p. 310.

३. एमइ अप्पा झाइयइ अविचलु चित्तु धरेवि।
सिद्धिमहापुरि जाइयइ अट्ठ वि कम्म हणेवि॥
मुनि रामसिंह, पाहुडदोहा : डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, अम्बादास चवरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला-३, कारंजा (बरार), १९३३ ई०, १७२वाँ दोहा, पृ० ५२।

४. अन्याकाराप्तिहेतुर्न च भवति परो येन तेनाल्पहीनः
प्रागात्मोपात्तदेहप्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्तः॥
दशभक्त्यदिसंग्रह : श्री सिद्धसेन गोयलीय सम्पादित, सलाल, साबरकाँठा, वीर निर्वाण सं० २४८१; पूज्यपाद, सिद्धभक्ति : ६वाँ श्लोक, पृ० १०७।

५. अइसयमव्वाबाहं सोक्खमणंतं अणोवमं परमं।
इंदियविसयातीदं अप्पत्तं अच्चवं च ते पत्ता॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, कुन्दकुन्द, सिद्धभक्ति : पृ० ५६।

६. अण्णु वि बन्धु वि तिहुयणहँ सासय-सुक्ख-सहाउ।
तित्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ॥
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री ए० एन० उपाध्ये सम्पादित, परमश्रुत-प्रभावकमण्डल, बम्बई, १९३७, २।२०२, पृ० ३३९।

है, फिर सुख शाश्वत क्यों नहीं होगा।[1] दुःखोंके कारणभूत संसारके नष्ट हो जानेसे वह सुख इतना अधिक होता है कि कोई उसको नाप नहीं सकता।[2] आचार्य पूज्यपादने उसको अतिशयवत्, वीतबाध, विशाल, वृद्धिह्रासव्यपेत, विषयविरहित, अन्यद्रव्यानपेक्ष, निरुपम, अमित, शाश्वत, उत्कृष्ट, अनन्तसार और परम कहा है।[3] इसमें 'अन्यद्रव्यानपेक्ष'का अर्थ है कि सिद्ध-सुख स्वसापेक्ष है, उसमें बाह्य-पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती।[4]

सिद्ध और अरहंतमें भेद

आठों कर्मोंका नाश करनेसे सिद्धपद प्राप्त होता है, और चार घातिया कर्मोंका क्षय करनेसे अर्हत्पद मिलता है।[5]

---

१. णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ॥
देखिए वही : १।१७, पृ० २६।

२. क्षुत्तृष्णाश्वासकासज्वरमरणजरानिष्टयोगप्रमोह-
व्यापत्त्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः कोऽस्य सौख्यस्य माता॥
दशभक्त्यादिसंग्रह : श्री सिद्धसेन गोयलीय सम्पादित, सलाल, साबरकाँठा, पूज्यपाद, सिद्धभक्ति : छठा श्लोक, अन्तिम दो पंक्तियाँ, पृ० १०७।

३. आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम्।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपमममितं शाश्वतं सर्वकालं
उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्॥
देखिए वही : पूज्यपाद, सिद्धभक्ति : ७वाँ श्लोक, पृ० १०८-१०९।

४. नार्थः क्षुत्तृड्विनाशाद्विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या,
नास्पृष्टैर्गन्धमाल्यैर्न हि मृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात्॥
आतङ्कार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजानर्थतावद्,
दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगततिमिरे दृश्यमाने समस्ते॥
देखिए वही : ८वाँ श्लोक, पृ० ११०।

५. घणघाइकम्ममहणा तिहुवणवरभव्वकमलमत्तंडा।
अरिहा अणंतणाणे अणुवमसोक्खा जयंतु जए॥
यतिवृषभ, तिलोयपण्णति : प्रथम भाग, शोलापुर, १९४३ ई०, २।१ पद्य
और
कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु॥
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री आदिनाथ नेमिनाथउ पाध्ये सम्पादित, बम्बई, १९३७ ई०, २।१९५, पृ० २३३।

प्रत्येक जीव सिद्ध बन सकता है, किन्तु अर्हत्पद प्राप्त करनेके लिए तीर्थकरत्व नामकर्मका उदय होना अनिवार्य है।[1]

अर्हन्तको अवशिष्ट चार अघातिया कर्मोंके नाश होने तक संसारमें रुकना होता है। उन्हें समवसरणकी विभूति प्राप्त होती है।[2] वे विश्वको अपना उपदेश देते हैं, जब कि सिद्ध सदा अपनेमें ही लीन रहते हैं।

अर्हन्त सकल परमात्मा कहलाते हैं। उनके शरीर होता है, वे दिखायी देते हैं। सिद्ध निराकार हैं, उनके कोई शरीर नहीं होता, उन्हें हम देख नहीं सकते।

सिद्धोंने पूर्णता प्राप्त कर ली है, इसलिए वे वृद्ध और ह्रास दोनोंके ऊपर उठ चुके हैं, जब कि अर्हन्तको अभी मोक्षमें प्रविष्ट होने तककी वृद्धि करना शेष है। इसी कारण उन्हें 'वृद्ध' विशेषण दिया जाता है।[3]

सिद्ध अर्हन्तोंके लिए पूज्य हैं। शिव अर्थात् सिद्धका कीर्त्तन करने हीके कारण उन्हें शिवकीर्त्तन कहा जाता है।[4] सिद्धात्माओंकी नगरीके पन्थपर चलनेके कारण उनको सिद्धपुरीपान्थ कहते हैं।[5] इसी कारण श्री योगीन्दुने उनको 'परापरः' कहा है, अर्थात् सिद्ध 'परेभ्योऽर्हत्परिमेष्ठिभ्यः पर उत्कृष्टो मुक्तिगतः

---

१. सोलह भावनाओंसे तीर्थंकरत्वनामकर्मका उदय होता है।
देखिए उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी, मथुरा, ६।२४, पृ० १५२।

२. आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदार-सभे रराज॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, वीर सेवामन्दिर, सरसावा, जुलाई १९५१, १६।३, पृ० ५५।

३. देखिए, पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : पं० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं. २०१०, १०।१३१, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० १३३।

४. "शिवानां सिद्धानां वा कीर्त्तनं यस्य सः शिवकीर्त्तनः। दीक्षावसरे 'नमः सिद्धेभ्यः' इत्युच्चारणत्वात्।"
देखिए वही : ७।९५, श्रुतसागरी टीका, पृ० २०४।

५. सिद्धानां मुक्तात्मनां पुरी नगरी मुक्तिः ईषत्प्राग्भारसंज्ञं पत्तनं, तस्याः पान्थः पथिकः।
देखिए वही : १० १३४, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० १३४-१३५।

शुद्धात्मा' कहलाते हैं।[1]

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

जब सिद्ध अर्हन्तोंके लिए पूज्य हैं, फिर 'णमो अरिहंताणं' मन्त्रमें पहले अर्हन्तोंको नमस्कार क्यों किया गया है ?

इसका उत्तर देते हुए भगवत पुष्पदन्त भूतबलिने षट्खंडागममें लिखा है, "यदि अर्हन्त न होते तो हमको आप्तागममें कहे हुए पदार्थोंका अवगम न हो पाता। अर्हन्तोंके प्रसादके कारण ही हम प्रामाणिक श्रुतको प्राप्त कर सके हैं, अतः आदिमें उनको नमस्कार किया गया है।"[2] आवश्यक सूत्रपर लिखी गयी आवश्यक निर्युक्तिमें भी, ऐसा ही कथन है।[3] तात्पर्य यह है कि समवसरणमें विराज कर अर्हन्त, आयुके क्षय होने तक विश्वको उपदेश देते हैं। वे उपदेश ही श्रुत साहित्य-के रूपमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं, और उनसे समाजको सदैव लाभ होता है। इसी दृष्टिसे अर्हन्तोंको पहले नमस्कार किया गया है।[4]

---

१. केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ॥
यः परापरः परेभ्योऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः पर उत्कृष्टो मुक्तिगतः शुद्धात्मा भावः पदार्थः स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः।
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये सम्पादित, बम्बई, १९३७ ई०, १।२४।, ब्रह्मदेवकृत संस्कृतवृत्तियुक्त, पृ० ३१-३२।

२. "विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात्। असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मदादीनां, संजातश्चैतत् प्रसादादित्युपकारापेक्षया वादावर्हन्नमस्कारः क्रियते।"
भगवत् पुष्पदन्त भूतबलि, षट्खंडागम : वीरसेनाचार्यकी टीकासहित, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, अमरावती, वि० सं० १९९६, पृ० ५३-५४।

३. अरहंतुवएसेणं सिद्धा नज्जंति तेण अरहाई।
न वि कोइ य परिसाए पणमित्ता पणमई रन्नो ॥
आवश्यकनिर्युक्तिसहित आवश्यकसूत्र : आगमोदयसमितिग्रन्थोद्धार, सूरत, १०२२वाँ पद्य, पृ० ५५३।

४. अत्थ भासइ अरिहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥
देखिए वही : ९२वीं गाथा।

सिद्ध-भक्ति

आचार्य कुन्दकुन्द सिद्धके परम भक्त थे। एक भक्तको आराध्यकी शरणमें जानेसे जो प्रसन्नता उपलब्ध होती है, वह ही उन्हें सिद्धोंकी शरणमें जानेसे मिली थी[1]। उन्होंने कहीं तो सिद्धोंकी महिमाके गीत गाये हैं, कहीं उनको सिर झुकाकर नमस्कार किया है, और कहीं वन्दना की है। उनका दृढ़ विश्वास है कि सिद्धोंकी भक्तिसे परमं शुद्ध सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है[2]। केवलज्ञान ही नहीं, अपितु भक्तको वह सुख भी मिलता है, जो सिद्धोंके अतिरिक्त अन्यको उपलब्ध नहीं है[3]।

आचार्य पूज्यपादने लिखा है कि सिद्धोंकी वन्दना करनेवाला उनके अनन्त गुणोंको सहजमें ही पा लेता है[4]। सिद्धोंका भक्त, भक्ति मात्रसे ही उस पदको भी प्राप्त करता है, जिस पर वे स्वयं प्रतिष्ठित हैं[5]।

आचार्य समन्तभद्रने उत्प्रेक्षाके द्वारा कहा है कि मानो भवसमुद्रमें डूबे हुए भव्योंका उद्धार करनेके लिए ही सिद्ध लोकाग्रशिखरपर विराजे हैं[6]।

---

१. देवेन्द्रदानवगणैरभिपूज्यमानान् सिद्धाँस्त्रिलोकमहितान् शरणं प्रपद्ये ॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, कुन्दकुन्द, सिद्धभक्ति : पृ० ६६।

२. जरमरणजम्मरहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स।
देंतु वरणाणलाहं बुहयणपरिपत्थणं परमसुद्धं ॥
देखिए वही : पृ० ५८।

३. अइभत्तिसंपउत्तो जो वंदइ लहु लहइ परमसुहं ॥
देखिए वही : पृ० ५८।

४. तान्सर्वान्सौम्यनन्तान्निजिगमिपुररं तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम् ॥
दशभक्त्यादिसंग्रह : श्री सिद्धसेन गोयलीय सम्पादित, सलाल, साबरकाँठ, गुजरात, वी० नि० सं० २४८१, आचार्य पूज्यपाद, सिद्धभक्ति : ९वाँ पद्य, पृ० १११।

५. अतिभक्तिसंप्रयुक्तो यो वन्दते स लघु लभते परमसुखम् ॥
देखिए वही : अन्तिम पद्य, पृ० ११२।

६. सिद्धस्त्वमिह संस्थानं लोकाग्रमगमः सताम्।
प्रोद्धर्तुमिव सन्तानं शोकाब्धौ मग्नमंक्ष्यताम् ॥
आचार्य समन्तभद्र, स्तुतिविद्या : पं० जुगलकिशोर सम्पादित : हिन्दी अनूदित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, वि०सं० २००७, ८०वाँ पद्य, पृ० ९९।

अर्थात् वे संसार-समुद्रमें डूबे जीवोंको निकालकर वहाँ बैठानेमें समर्थ हैं, जहाँ वह स्वयं विराजमान हैं। उनके मतमें सिद्ध परमेष्ठी केवल मोक्ष या परमसुख ही नहीं; अपितु परम ऐश्वर्य भी प्रदान करते हैं। बहुत बड़ा पापी भी उनकी भक्ति कर अपने पापोंसे छुटकारा पा जाता है[1]।

श्री योगीन्दुने उन सिद्धोंको नमस्कार किया है, जो परम समाधिको धारण करनेवाले, कल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय हैं[2]। यद्यपि वे तीनों लोकोंमें गुरु (भारी) हैं, फिर भी संसार-समुद्रमें डूबते नहीं[3]। यह आश्चर्य है, क्योंकि भारी वस्तु जल्दी डूब जाती है। इसका अर्थ है कि सिद्ध, गुरु अर्थात् सबसे बड़े हैं। संसार-समुद्रको पार करके ही वे मोक्षमें विराजे हैं।

श्री शान्तिसूरिने 'चेइयवंदणमहाभासं' में, सिद्धोंको सिर झुकाना सर्वोत्तम भाव-नमस्कार माना है[4]। आचार्य सोमदेवका कथन है कि सिद्धोंकी भक्तिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन प्रकारके रत्न उपलब्ध होते हैं[5]।

---

१. यद्भक्त्या शमिताक्रशाघमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये
ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ॥
देखिए वही : ११६वाँ पद्य, पृ० १४१।

२. ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिँ जे वि अणंत।
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ॥
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये सम्पादित, बम्बई, १९३७ ई०, १।२, पृ० ८।

३. णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति ॥
देखिए वही : १।४, पृ० १०।

४. णणु सिद्धमेव भगवओ, एसो सव्वोत्तमो नमोक्कारो।
आणाणुपालणत्थं, भावनमोक्काररूव त्ति ॥
श्रीशान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : श्री मुनि चतुरविजय और पं० बेचरदास सम्पादित, श्री जैन आत्मानन्दसभा, श्री आत्मानन्द ग्रन्थरत्नमाला ६९, भावनगर, वि० सं० १९७७, ७५१वाँ पद्य, पृ० १३५।

५. कालेषु त्रिषु मुक्तिसंगमजुषः स्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपै-
स्ते रत्नत्रयमङ्गलानि दधतां भव्येषु रत्नाकराः ॥
K. K. Handiqui, Yasastilaka and Indian Culture, Jain Samskriti Samrakshaka Sangha, Sholapur, 1949, पृ० ३११।

२—श्रुत-भक्ति

'श्रुत'की परिभाषा

श्रुत ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र 'श्रुत' कहलाता है[1]। वह एक ज्ञानविशेषके अर्थमें निबद्ध है। आचार्य श्रुतसागरने तत्त्वार्थवृत्तिमें लिखा है, "श्रवणं श्रुतं ज्ञानविशेष इत्यर्थः, न तु श्रवणमात्रम्। श्रवणं श्रुतमित्युक्ते श्रवणमात्रं न भवति, किन्तु ज्ञानविशेषः[2]।" पहले लेखनक्रियाका जन्म न होनेके कारण, समूचा ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परासे सुन-सुनकर ही प्राप्त होता था। शास्त्रोंमें निबद्ध होनेके पश्चात् भी वह श्रुत संज्ञासे ही अभिहित होता रहा। जैनाचार्योंके अनुसार वे ही शास्त्र श्रुत कहलायेंगे, जिनमें भगवान्‌की दिव्य ध्वनिका प्रतिनिधित्व हुआ हो[3]।

श्रुत-साहित्य

श्रुतके दो भेद हैं—अङ्ग-बाह्य और अङ्ग-प्रविष्ट। अङ्ग-बाह्यके दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। अङ्ग-प्रविष्टके १२ भेद हैं[4]।

---

१. तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्।
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धिः पं० फूलचन्द्र सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, १।९, पृ० ९४।

२. आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति : पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मार्च १९४९, १।२०, पृ० ६५।

३. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम्॥
आचार्यसमन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, अप्रैल १९५५, १।९, पृ० ४३।

४. द्विभेदं तावत्—अङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टमिति। अङ्गबाह्यमनेकविधं दशवैकालिकोत्तराध्ययनादि। अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम्। तद्यथा—आचारः, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययनं, अन्तकृद्दशं, अनुत्तरौपपादिकदशं, प्रश्नव्याकरणं, विपाकसूत्रं, दृष्टिवाद इति।
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, काशी, २०१२ वि० सं०, १।२०, पृ० १२३।

कहा जाता है कि १२वें अंग दृष्टिवादमें १४ पूर्वोंका सार संकलित हुआ था[1]। पूर्व-साहित्य भगवान् महावीरसे भी पहलेका था, इसी कारण उसकी 'पूर्व' संज्ञा थी।

दिगम्बर मान्यताके अनुसार, यह समूचा वाङ्मय, तीन केवली[2] और पाँच श्रुतकेवलियों[3] तक अनवच्छिन्न रूपसे चलता रहा, किन्तु उत्तरोत्तर बुद्धिबल और धारणाशक्तिके अल्प होते जानेसे सब कुछ विस्मरण हो गया। इस भाँति भगवान् महावीरके निर्वाण जानेके ६८३ वर्षके भीतर ही जैन-श्रुत छिन्न-भिन्न हो गया। जो कुछ बचा वह आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलिके षट्खंडागममें तथा आचार्य गुणधरके कषाय-प्राभृतमें निबद्ध हुआ है[4]।

श्वेताम्बर-परम्पराके अनुसार दृष्टिवाद और १४ पूर्वोंके विलुप्त हो जानेपर भी, ११ अंग सुरक्षित बच गयें। उन्हें सुरक्षित रखनेके लिए पाटलिपुत्र, मथुरा और बल्लभीमें तीन प्रयत्न हुए थे। आगम-सूत्र साहित्य उन्हींका प्रतिनिधित्व

---

१. दृष्टिवादके पाँच भेद—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका हैं। इनमें पूर्वगत १४ प्रकारका है—उत्पादपूर्व, आग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार।
देखिए, अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्त्तिक : प्रथम भाग, पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, जनवरी १९५३, १।२० का वार्त्तिक, पृष्ठ ७४।

२. गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी, ये तीन केवली कहे जाते हैं।

३. विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु, ये पाँच श्रुतकेवली कहलाते हैं।
भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७, २।१४१।

४. देखिए, सर्वार्थसिद्धि : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, प्रस्तावना, पं० फूलचन्द्र जी लिखित, पृ० १२।

और

भगवंत भूतबलि, महाबंध (महाधवलसिद्धान्त) : प्रथम भाग, श्रीसुमेरचन्द्र दिवाकर सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मई १९४७, प्रस्तावना श्रीसुमेरचन्द्र लिखित, पृष्ठ १७-१९।

करता है[1]।

श्रुतकी महिमा

तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव, अर्हन्त, आचार्य और उपाध्याय भक्तिके साथ बहुश्रुतभक्तिसे भी होता है[2]।

आत्मा ज्ञानरूप है, और श्रुत भी एक ज्ञान है, अतः श्रुतज्ञान भी आत्मा को जाननेमें पूर्ण रूपसे समर्थ है[3]। श्रुतज्ञान और केवलज्ञानमें केवल परोक्ष और प्रत्यक्षकृत भेद है[4], सब पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा दोनों समान हैं[5]।

---

१. इतिहासप्रसिद्ध 'अकाल' के उपरान्त, भगवान् महावीरके बिखरे उपदेशोंको इकट्ठा करनेके लिए एक सभा पाटलिपुत्रमें हुई (आवश्यक-चूर्णि)। इस सभाका समय वीरनिर्वाण सं० १६० और ईसा पूर्व ३०७ वर्ष है। दूसरी सभा मथुरामें, आर्य स्कन्दिलके सभापतित्वमें हुई (नन्दी चूर्णि)। इसका समय वी० नि० सं० ८२७-८४० और ईसा पश्चात् ३६०-३७३ माना जाता है। तीसरी सभा वल्लभीमें, देवर्द्धिगणिके सभापतित्वमें हुई (योगशास्त्र-हेमचन्द्र)। इसका समय वी० नि० सं० ९८० और ईसा पश्चात् ५१३ निर्धारित किया गया है।
देखिए, Dr. Jagdishchandra Jain, Life in Ancient India, As depicted in the Jain Canons, New Book Company, Ltd, 1947, P. 35-53.

२. श्री उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं. कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी मथुरा, ६।२४, पृ० १५३।

३. जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा॥
आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार : पं० परमेष्ठीदास हिन्दी अनूदित, श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला २५, मारौठ (मारवाड़), फरवरी १९५३, १०वीं गाथा, पृ० २१।

४. आद्ये परोक्षम्॥ प्रत्यक्षमन्यत्॥
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी, १।११, १।१२, पृ० १२।

५. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : पं० हीरालाल सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी १९५४, ८।७४, हिन्दी अनुवाद।

सम्यग्दर्शन, जो मोक्ष प्राप्त करनेका मूलाधार है, यदि निसर्गसे उत्पन्न होता है, तो अधिगमसे भी[1]। अधिगमका अर्थ है—अर्थावबोध,[2] जिसकी प्राप्तिमें श्रुतका बहुत बड़ा योग-दान है। सराग सम्यग्दर्शनके भेदोंमें एक आस्तिक्य भी है, जिसका अर्थ देव, शास्त्र, व्रत और तत्त्वोंमें दृढ़ विश्वास करना है[3]। अर्थात् शास्त्रमें दृढ़ विश्वास करना सम्यग्दर्शन ही है।

अङ्ग, उपाङ्ग और प्रकीर्णकके भेदसे श्रुतसागर अपार है। कोई पण्डितमानी भी उसको पार करनेमें समर्थ नहीं है। यह द्वादशाङ्गरूप श्रुत रत्नोंसे भरे समुद्रके समान है, अतः वह अत्यधिक सुन्दर है[4]।

श्रुत देवीकी उपासना

श्रुतदेवीकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवज्जिनसेनाचार्य (९वीं शताब्दी-विक्रम) ने लिखा है, "भगवान् ऋषभदेवकी तीन पत्नियाँ थीं—सरस्वती, कीर्त्ति और लक्ष्मी। लक्ष्मीमें उनका प्रेम मन्द हो गया था। उन्हें तो सरस्वती और कल्पान्त काल तक रहनेवाली कीर्त्ति ही अधिक प्रिय थीं।[5]"

---

१. तन्निसर्गादधिगमाद्वा।
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, चौरासी, १।३, पृ० ४।

२. 'अधिगमोऽर्थावबोधः।'
पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं. २०१२, १।३ का भाष्य, पृ० १२।

३. आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतम्।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे॥
सोमदेव, यशस्तिलक : काव्यमाला ७०, बम्बई, १९०१, पृ० ३२३.

४. अंगो-वंग-पइन्नयभेया सुअसागरो खलु अपारो।
को तस्स मुणइ मज्झं, पुरिसो पंडिअमाणी वि ?॥
सव्वप्पवायमूलं, दुवालसंगं जओ समक्खायं।
रयणायरतुल्लं खलु, ता सव्वं सुंदरं तम्मि॥
श्री शान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. १९७७, गाथा १९,२१, पृ० ४।

५. सरस्वती प्रियास्यासीत् कीर्त्तिश्चाकल्पवर्त्तिनी।
लक्ष्मीं तडिल्लतालोलां मन्दप्रेम्णैव सोऽवहत्॥
भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : भाग १, पं० पन्नालाल जैन सम्पादित, हिन्दी-अनुदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं. २००७, १५।४८, पृ० ३२९।

महाकवि पुष्पदन्त (११वीं शताब्दी विक्रम) ने, चौदह पूर्व, बारह अंग, जिनमुखसे निकली हुई और सप्तभंगीमय श्रुतदेवीकी वन्दनासे ही, णायकुमार-चरिउका प्रारम्भ किया है।[1]

श्री अमितगति (वि. सं. १०५०) ने सामायिक पाठमें लिखा है, "हे सरस्वतीदेवी ! यदि मैंने मात्रा, पद, वाक्य और अर्थहीन वचन कहे हों, तो आप क्षमा करें और मुझे पूर्ण ज्ञान दें।[2]" उन्होंने यह भी कहा कि श्रुतदेवी अपने भक्तोंकी सभी मनोकामनाओंको पूरा करती है।[3]

आचार्य सोमदेवने श्रुतदेवीकी भक्तिको ही सामायिक कहा है। उन्होंने अष्ट द्रव्योंसे श्रुतदेवीकी पूजा भी की है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है कि सरस्वती स्याद्वाद रूप है, मुनियोंके द्वारा माननीय है, देवोंसे उपासनीय है। वह देवी अन्तः-करणमें स्थित समस्त कलंकोंको धोकर शुद्ध बनाती है, और ज्ञानरूपी हाथीके अवगाहन करनेके लिए तो वह एक नदीके समान है।[4]

आचार्य वसुनन्दिने श्रुतदेवीकी मूर्तिकी स्थापनाकी बात कही है। उन्होंने लिखा, "श्रुतज्ञानके बारह अंग और उपांगवाली, सम्यग्दर्शनरूप तिलकसे विभूषित, चारित्ररूप वस्त्रकी धारक और चौदह पूर्व रूप आभरणोंसे मण्डित श्रुतदेवीकी

---

१. चउदह पुव्विल्ल दुवालसंगि, जिणवयणविणिग्गयसत्तभंगि।
वायरणवित्ति पायडियणाम, पसियउ महु देवि मणोहिराम ॥
पुप्फयंत, णायकुमारचरिउ : डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, बलात्कारगण-जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, बरार, १९३३ ई०, पहली सन्धि, ९,१० पंक्ति, पृ० ३।

२. यदर्थमात्रापदवाक्यहीनम्, मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥
अमितगति, सामायिकपाठ : ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी सम्पादित, धर्मपुरा, देहली, वि. सं० १९७७, १०वाँ श्लोक, पृ० १३।

३. बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः, स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने, त्वां वन्द्यमानस्य ममास्तु देवि ॥
देखिए वही : ११वाँ श्लोक, पृ० १४।

४. स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणैः समुपासनीया।
स्वान्ताश्रिताखिलकलङ्कहरप्रवाहा वागापगास्तु मम बोधगजावगाहा ॥
सोमदेव, यशस्तिलक : काव्यमाला ७०, बम्बई, १९०१, पृ० ४०१।

भी स्थापना शुभ तिथि और शुभ मुहूर्त्तमें करनी चाहिए।[1]" समयसारके प्रसिद्ध टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य (१२वीं शताब्दी विक्रम) ने अनन्तधर्मके तत्त्वोंको देखनेवाली अनेकान्तमयी मूर्त्तिको नमस्कार किया है।[2]

श्रुतधरोंकी वन्दना

भगवान् महावीरके उपरान्त हुए तीन केवली और पांच श्रुतकेवली श्रुतधर कहलाते हैं। भगवान् महावीरके प्रमुख गणधर गौतम स्वामी भी केवली ही थे। 'चेइयवन्दणमहाभासं'के प्रारम्भमें ही लिखा है, "जिनके महाह्लद रूपी मुखसे, द्वादशाङ्गी महानदी उत्पन्न हुई है, उन गिरि-जैसे गणधरोंको मैं भावपूर्वक नमस्कार करता हूँ।[3]" भगवज्जिनसेनाचार्यने श्रुतके पारगामी गौतम गणधरसे याचना की है कि—हम सब अज्ञानान्धकारको भेदकर परं धाममें प्रविष्ट हो जायें।[4] आचार्य शुभचन्द्र (१३वीं शताब्दी विक्रम) ने ज्ञानार्णवमें लिखा है, "जो श्रुतस्कन्धरूपी आकाशमें चन्द्रके समान हैं, संयमश्रीको विशेष रूपसे धारण करनेवाले हैं, ऐसे योगीन्द्र इन्द्रभूति गौतमको, मैं ध्यानसिद्धिके लिए नमस्कार

---

१. बारह अंगंगी जा दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चौद्दहपुव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी॥
आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार : पं० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, अप्रैल १९५२, ३९१वीं गाथा, पृ० १२३।

२. अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥
देखिए, समयसार : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, २५ फरवरी १९५३, श्रीअमृतचन्द्राचार्यका मंगलाचरण, अनुष्टुप् २, पृ० २।

३. जम्मुहमहद्दहाओ, दुवालसंगी महानई बूढा।
ते गणहरकुलगिरिणो, सव्वे वंदामि भावेण॥
श्री शान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : संस्कृतटीकासहित, मुनि श्री चतुरविजय और पं० बेचरदास सम्पादित, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. १९७७, ४थी गाथा, पृ० १।

४. पारेतमः परंधाम प्रवेष्टुमनसो वयम्।
तद्द्वारोद्घाटनं बीजं त्वामुपास्य लभेमहि॥
भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : भाग १, पं० पन्नालाल सम्पादित, हिन्दी अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं. २००७, २।६२, पृ० ३५।

करता हूँ।[1]"

द्वादशात्मा होनेके कारण भगवान् जिनेन्द्र भी श्रुतधर, कहलाते हैं। पण्डित आशाधरने उन्हें 'गुरुश्रुति' और 'श्रुत-पूत' जैसे विशेषणोंसे सुशोभित किया है। इसका अर्थ है कि भगवान्‌की दिव्यध्वनि ही वह श्रुत है, जिसके द्वारा भव्य प्राणी मोक्ष जानेमें समर्थ हैं।[2] आचार्य कुन्दकुन्दने भी भगवान् जिनेन्द्रको ही श्रुतधर माना है। उन्होंने लिखा है, "इस प्रकार मेरे द्वारा संस्तुत किये गये श्रुतप्रवर जिनवरवृषभ, मुझे शीघ्र ही श्रुत लाभ प्रदान करें।"[3]

शास्त्र पूजन

श्रुतके दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। शास्त्रोंकी गणना द्रव्यश्रुतमें की जाती है। जैनाचार्योंने शास्त्र-पूजनको अचित्तद्रव्य पूजनकी कोटिमें गिना है।[4] आचार्य भूतवलिने जब षट्‌खण्डागमकी रचना समाप्त की, तब उसे शास्त्र-रूपमें प्रतिष्ठित किया गया, और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन, चतुर्विध संघके साथ उसका महान् पूजन भी हुआ।[5] भगवान् जिनेन्द्रकी मूर्तिके समान ही,

---

१. श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्रं संयमश्रीविशेषकम्।
इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये॥
आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव : रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला-२, श्री परमश्रुत-प्रभावक मंडल, बम्बई, छठा श्लोक।

२. 'गुर्वी केवलज्ञानसमाना श्रुतिः शास्त्रं यस्येति', 'श्रुतिशब्देन सर्वज्ञवीत-रागध्वनिः, तया पूतः पवित्रः सर्वोऽपि पूर्वं सर्वज्ञश्रुत्या तीर्थंकरनामगोत्रं बद्ध्वा पवित्रो भूत्वा सर्वज्ञः संजातस्तेन श्रुतिपूत उच्यते।'
पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : पं० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी १९५४, ९।१२२, ९।१२१, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० १२९, १२७।

३. एवमए सुदपवरा भत्तीरायेण संथुया तच्चा।
सिग्घं मे सुदलाहं जिणवरवसहा पयच्छंतु॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृतश्रुतभक्ति : ११वीं गाथा, पृ० १२४।

४. 'तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा।'
आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार : पं० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, अप्रैल १९५२, ४५०वीं गाथा, पृ० १३०।

५. इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार : माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १४३वाँ पद्य।

शास्त्रोंकी भी प्रतिष्ठा होने लगी थी।[1] मध्यकालमें तो तारणपन्थ नामके एक ऐसे आम्नायने जन्म लिया, जो अर्हन्तकी मूर्तिको न पूजकर, शास्त्रोंकी पूजामें ही विश्वास करता था।

सच्छास्त्रोंके अध्ययनकी बात करते हुए एक बार, श्रीमद्राजचन्द्रने कहा था, "मैं ज्ञान हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा मान लेनेसे, ऐसा चिल्लानेसे कोई तद्रूप नहीं हो सकता। तद्रूप होनेके लिए सच्छास्त्र आदिका सेवन करना चाहिए।"[2]

४—ज्ञानपूजन

भावश्रुतको ज्ञान कहते हैं। द्रव्यश्रुत भी ज्ञान है, किन्तु वह शास्त्रीय-अध्ययन तक ही सीमित है। भावश्रुतमें परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ही प्रकारके ज्ञान शामिल हैं।[3] इसी कारण श्रुतभक्तिमें पाँच ज्ञानोंकी भी भक्ति की गयी है। भक्तिसे ज्ञान प्राप्त होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है कि विनयके विना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।[4] प्रथम अध्यायमें विनय और भक्तिका सम्बन्ध दिखाया जा चुका है।

आचार्य पूज्यपादने दूसरोंके मनमें स्थित अर्थको जाननेवाले मनःपर्यय-ज्ञान[5] और त्रिकालवर्ती पदार्थोंको एक साथ जाननेवाले केवलज्ञानकी स्तुति की

---

१. अहवा जिणागमं पुत्थएसु सम्मं लिहाविऊण तओ।
सुहतिहि-लग्ग-मुहुत्ते आरंभो होइ कायव्वो॥
आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार: पं० हीरालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, अप्रैल १९५२, ३९२वी गाथा, पृ० १२३।

२. श्रीमद्राजचन्द्र, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन सम्पादित, श्रीपरमश्रुतप्रभावक-मण्डल, बम्बई, पृ० ७४२।

३. देखिए, दशभक्ति: शोलापुर, १९२१ ई०, आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत श्रुतभक्ति : भावरूप श्रुतज्ञानका वर्णन, पृ० ७८।

४. दंसणणाणावरणं मोहवियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भविय जीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो॥
आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ (मारवाड़), भावपाहुड : १४९वीं गाथा।

५. परमनसि स्थितमर्थं मनसा परिविद्य मन्त्रिमहितगुणम्।
ऋजुविपुलमतिविकल्पं स्तौमि मनःपर्ययज्ञानम्॥
दशभक्त्यादिसंग्रह : श्री सिद्धसेन सम्पादित, सलाल, साबरकाँठा, गुजरात, आचार्यपूज्यपाद, श्रुतभक्ति : २८वाँ श्लोक, पृ० १३५।

है[1]। श्रुतज्ञानको नमस्कार करते हुए उन्होंने लिखा है, "जिनेन्द्र भगवान्‌के कहे गये, गणधरोंके द्वारा रचित, अंग और अंग बाह्यसहित, तथा अनन्त पदार्थों-को विषय करनेवाले श्रुतज्ञानको मैं नमस्कार करता हूँ।"[2] उन्होंने मतिज्ञान और अवधिज्ञानकी भी वन्दना की है। उन्हें विश्वास है कि पाँच ज्ञानोंकी स्तुति करनेसे अविनाशी सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।[3] आचार्य कुन्दकुन्दने प्राकृत श्रुतभक्तिमें श्रुतज्ञानकी स्तुति करते हुए लिखा है, "अर्हन्तके द्वारा कहे गये और गणधरोंके द्वारा गूँथे गये, ऐसे महासागरप्रमाण श्रुतज्ञानको मैं सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।"[4]

श्रुतके अंगोंकी भक्ति

आचार्य पूज्यपादने श्रुतके बारह अंगोंकी स्तुति की है। उन्होंने बारहवें अंग दृष्टिवादकी भक्तिमें लिखा है, "परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिकासहित पाँच प्रकारके दृष्टिवाद अंगकी मैं स्तुति करता हूँ।"[5] आचार्य कुन्दकुन्दने प्राकृत श्रुतभक्तिके प्रारम्भमें ही सिद्धोंको नमस्कार करके श्रुतके सभी

---

१. क्षायिकमनन्तमेकं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम्।
सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम्॥
देखिए वही : २९वाँ श्लोक, पृ० १३६।

२. श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्थम्।
अङ्गाङ्गबाह्यभावितमनन्तविषयं नमस्यामि॥
देखिए वही : ४था श्लोक, पृ० ११८।

३. एवमभिष्टुवतो मे ज्ञानानि समस्तलोकचक्षूंषि।
लघु भवताज्ज्ञानर्द्धिर्ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम्॥
देखिए वही : ३०वाँ श्लोक, पृ० १३७।

४. अरहन्तभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत-श्रुतभक्ति : पृ० १२६-१२७।

५. परिकर्म च सूत्रं च स्तौमि प्रथमानुयोगपूर्वगते।
सार्द्धं चूलिकयाऽपि च पञ्चविधं दृष्टिवादं च॥
देखिए वही : आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत श्रुतभक्ति : ९वाँ श्लोक पृ० ९२।

अंगोंको वन्दना की है।[1]

श्रुतभक्तिका फल

श्री उमास्वातिने लिखा है कि 'तत्त्वार्थसूत्र'को एक बार पढ़नेसे ही, पूरे दिनके उपवासका फल मिलता है।[2]

आचार्य कुन्दकुन्दका कथन है कि 'समयप्राभृत' को पढ़कर, जो उसके अर्थमें स्थित होगा, वह उत्तम सुख, अर्थात् मोक्षका सुख प्राप्त करेगा।[3]

जो 'परमात्मप्रकाश' का प्रतिदिन नाम लेते हैं, उनका मोह दूर हो जाता है, और वे त्रिभुवनके नाथ बन जाते हैं।[4]

'सर्वार्थसिद्धि' को भक्तिपूर्वक सुनने और पढ़नेसे परमसिद्धि प्राप्त होती है, फिर देवेन्द्र और चक्रवर्तीके सुखका तो कहना ही क्या है।[5]

---

१. सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
काऊणं णमुक्कारं भत्तीए णमामि अंगाइं॥
देखिए वही : आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत श्रुतभक्ति : पहली गाथा, पृ० १२१।

२. दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥
बृहज्जिनवाणीसंग्रह, पं० बाकलीवाल संपादित, सम्राट् संस्करण, वी० नि० सं० २४८२, तत्त्वार्थसूत्र : अन्तिम ४था श्लोक, पृ० २२५।

३. जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चओ णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं॥
कुन्दकुन्द, समयसार : पं० परमेष्ठीदास, हिन्दी-अनूदित, श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड़, फरवरी १९५३, ४१५वीं गाथा, पृ० ५६१।

४. जे परमप्प-पयासयहं अणुदिणु णाउ लयंति।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहँ तिहुयण-णाह हवंति॥
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये सम्पादित, श्री रायचन्द्र जैन-शास्त्रमाला, श्री परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९३७ ई०, २।२०६, पृ० ३४२।

५. तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः श्रृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या।
हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तैर्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम्॥
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, पृ० ४७४।

इस भाँति जैनाचार्योंने स्पष्ट स्वीकार किया है, "श्रुतकी अर्चना, पूजा, वन्दना और नमस्कार करनेसे सब दुखों और कर्मोंका क्षय हो जाता है। तथा बोधिलाभ, सुगतिगमन, समाधिमरण और जिणगुणसम्पत्ति भी प्राप्त होती हैं।"[1]

३. चारित्र-भक्ति

'चारित्र'की व्युत्पत्ति

'चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्'[2] अर्थात् जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाये या आचरण करना मात्र चारित्र कहलाता है। इसका तात्पर्य हुआ कि आचरणका ही दूसरा नाम चारित्र है। चारित्र अच्छा और बुरा दो प्रकारका होता है। चारित्र-भक्तिका सम्बन्ध अच्छे चारित्रसे है, जैन-साहित्यमें उसे ही सम्यक्चारित्र कहा गया है।

सम्यक्चारित्रकी परिभाषा

आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है, "संसार बन्धके कारणोंको दूर करनेकी अभिलाषा करनेवाले ज्ञानी पुरुष, कर्मोंकी निमित्तभूत क्रियासे विरत हो जाते हैं, इसीको सम्यक्चारित्र कहते हैं। चारित्र अज्ञानपूर्वक न हो, अतः सम्यक् विशेषण जोड़ा गया है।"[3] आचार्य भट्टाकलंकने तत्त्वार्थवार्त्तिकमें[4] और

---

१. अंगोवंगपइण्णए पाहुडयपरियम्मसुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइ धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिण-गुणसंपत्ति होउ मज्झं।
दशभक्ति : शोलापुर, सन् १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत श्रुत-भक्तिः : पृष्ठ १२७।

२. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, १।१ का भाष्य, पृष्ठ ६।

३. 'संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्' देखिए वही : १।१, पृ० ५।

४. 'संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशे-षोपरमः सम्यक्चारित्रम्'।
आचार्य भट्टाकलंक, तत्त्वार्थवार्त्तिक : भाग १, पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, जनवरी १९५३, १।१ का वार्त्तिक, पृ० ४।

श्री श्रुतसागरसूरिने तत्त्वार्थवृत्तिमें[1] इसी परिभाषाका समर्थन किया है।

चारित्र और तत्त्वार्थश्रद्धान

आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्र-पाहुडमें लिखा है, "जो जाने सो ज्ञान और जो देखे सो दर्शन, तथा दोनोंके समायोगको चारित्र कहते है।"[2] यहाँ दर्शनका अर्थ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञभाषित तत्त्वार्थके श्रद्धानको कहते हैं। श्रद्धान; चारित्र ही है, इसका समर्थन पं० जयचन्द छावड़ाने, आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्र पाहुडकी पाँचवीं गाथाका अनुवाद करते हुए किया है।[3] तत्त्वार्थके श्रद्धानमें मनको शुभ क्रिया करनी पड़ती है, अतः वह सम्यक्चारित्र ही है। आचार्य कुन्दकुन्दने तत्त्वार्थश्रद्धानकी महत्ता बताते हुए भावपाहुडमें लिखा है, "अरिहंतकी वाणीमें सच्चे श्रद्धानके बिना कठोरसे-कठोर तप और संयम व्यर्थ है।"[4] जैन शास्त्रोंके अनुसार केवल कर्म-काण्ड सम्यक्चारित्र नहीं है, उसके पीछे सच्चा भाव होना ही चाहिए। इसे ही 'आभ्यन्तरचरित्र' कहते हैं। आचार्य अकलंकदेव-

---

१. 'संसारहेतुभूतक्रियानिवृत्त्युद्यतस्य तत्त्वज्ञानवतः पुरुषस्य कर्मादानकारणक्रियोपरमणमज्ञानपूर्वकाचरणरहितं सम्यक्चारित्रम्'।
आचार्य श्रुतसागर सूरि, तत्त्वार्थवृत्ति : पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मार्च १९४९, १।१की वृत्ति, पृ० ४।

२. जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छयस्स य समवण्णा होइ चारित्तं॥
आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड़, चरित्रपाहुड : तीसरी गाथा।

३. 'चारित्र दो प्रकारका है, सर्वज्ञभाषित तत्त्वार्थका शुद्ध श्रद्धान करना प्रथम चारित्र है, और सर्वज्ञकी आज्ञाके अनुसार संयम अर्थात् व्रतादिक धारण करना दूसरा चारित्र है।
देखिए वही : पाँचवीं गाथाका भावार्थ।

४. भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वितवंचरइ कोडि-कोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो॥
आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड़, भावपाहुड : ४थी गाथा।

ने उसे 'मानसचारित्र'की संज्ञासे अभिहित किया है।[1]

चारित्र-भक्ति

आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है कि पूर्ण चारित्र पालकर, मोक्ष गये हुए सिद्धोंको वन्दनासे चरित्रगत विश्रृंखलता दूर होती है और मोक्षसुख प्राप्त होता है।[2] उन्होंने पाँच प्रकारके चारित्रकी भक्तिसे, कर्म-मलका शुद्ध होना लिखा है।[3]

आचार्य समन्तभद्रने लिखा है कि सम्यक्चारित्रके द्वारा जिन्होंने आर्हन्त्यपद प्राप्त किया है, वे त्रिलोककी पूजाके अतिशय स्थान हैं।[4]

आचार्य पूज्यपादने आचारके पाँच भेद किये हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार और चारित्राचार। पाँचों ही की वन्दना की है, और पाँच

---

१. 'स द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति। बाह्यो वाचिकः कायिकश्च बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आभ्यन्तरो मानसः छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्, तस्योपरमः सम्यक्चारित्रमित्युच्यते।'
आचार्य अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक : पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, जनवरी १९५३, १।१ की वार्तिक, पृ० ४।

२. जइ रायेण दोसेण मोहेणाणादरेण वा।
वंदित्ता सव्वसिद्धाणं संजदा सा मुमुक्खुणा॥
संजदेण मए सम्मं सव्वसंजमभाविणा।
सव्वसंजमसिद्धीओ लब्भदे मुत्तिजं सुहं॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत चारित्र-भक्ति : ९वीं-१०वीं गाथा, पृ० १५८।

३. सामाइयं तु चारित्तं छेदो वट्ठावणं तहा।
तं परिहारविसुद्धिं च संजमं सुहुमं पुणो॥
जहाखादं तु चारित्तं तहाखादं तु तं पुणो।
किच्चाहं पञ्चहाचारं मंगलं मलसोहणं॥
देखिए वही : तीसरी, चौथी गाथा, पृ० १५२।

४. स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोह-विद्विषम्।
अवापदाऽऽर्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजाऽतिशयाऽऽस्पदं पदम्॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : सरसावा, सहारनपुर, जुलाई १९५१, २३।३, पृ० ८२।

प्रकारके आचारको धारण करनेवाले मुनियोंको भी नमस्कार किया है।[1] उन्होंने कहा, "पाँच प्रकारका आचार संसार-समुद्रसे पार करनेवाला तीर्थ है, उत्कृष्ट मंगलरूप है, उसको मैं नमस्कार करता हूँ।[2]"

चारित्रकी महिमाका वर्णन करना, चारित्र-भक्ति ही है। आचार्य सोमदेवने संयम, दम और ध्यानादिसे युक्त चारित्रको नमस्कार करते हुए लिखा है कि चारित्र तो 'सम्यक्त्वरत्नाङ्कुर' है, उसके बिना मुनियोंके बड़े-बड़े तप भी व्यर्थ हैं।[3] एक-दूसरे स्थानपर भाव-विभोर होते हुए उन्होंने लिखा, "मनोकामनाओंको पूरा करनेके लिए चारित्र चिन्तामणिके समान है, सौन्दर्य तथा सौभाग्यकी निधि है, घरकी वृद्धिके लिए लक्ष्मी है और बल तथा आरोग्य देनेमें पूर्ण समर्थ है। मोक्षके लिए किये गये पञ्चात्मक चरित्रको मैं नमस्कार करता हूँ। उससे विविध स्वर्गापवर्ग प्राप्त होते हैं।"[4]

४. योगि-भक्ति

'योगि'की व्युत्पत्ति और परिभाषा

'योगो ध्यानसामग्री अष्टाङ्गानि विद्यन्ते यस्य स योगी[5],' अर्थात् अष्टांग योगको धारण करनेवाला योगी कहलाता है।

---

१. दशभक्त्यादिसंग्रह : श्रीसिद्धसेन गोयलीय-सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, सलाल, साबरकाँठा, गुजरात, वी० नि० सं० २४८१, श्लोक २–८, पृ० १४०–१४७।

२. 'आचारं सहपञ्चभेदमुदितं तीर्थं परं मंगलम्।'
देखिए वही : ८वें श्लोककी पहली पंक्ति, पृ० १४७।

३. ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात् स्वस्य खेदावहं
धत्ते साधु न तत्फल-श्रियमयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः।
कामं देव यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमय-
स्तस्मै स्वच्चरिताय संयमदमध्यानादिधाम्ने नमः॥
Prof K. K. Handiqui, Yasastilak and Indian Culture, Jainsamskriti Samrakshaka Sangh, Sholapur, 1949, P. 309

४. यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः सौरूप्यसौभाग्ययोः
श्रीपाणिग्रहकौतुकं कुलबलारोग्यागमे संगमः।
यत्पूर्वैश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मकं
तच्चारित्रमहं नमामि विविधं स्वर्गापवर्गाप्तये॥
देखिए वही : पृ० ३०१।

५. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : स्वोपज्ञवृत्ति और श्रुतसागरी टीका सहित, पं० हीरालाल सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, ६।७२ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ०९०।

'योग' शब्द 'युज' धातुसे बना है, और 'युज' धातु समाधि-अर्थमें आती है।[1] जल भरे घड़ेके समान निश्चल होकर, आत्मस्वरूपमें अवस्थित होनेको समाधि कहते हैं।[2] साम्य, समाधि, स्वास्थ्य, योग, चित्त-निरोध और शुद्धोपयोग एकार्थवाची शब्द हैं। इसका अर्थ हुआ कि आत्मस्वरूपमें अवस्थित होना अर्थात् एकतान होना योग है। पातञ्जलिके योगसूत्रमें भी योग शब्द 'युज' धातुसे बना है, और वहाँ मस्तिष्कको सूक्ष्म-ब्रह्ममें एकाग्र कर देना ही योग माना गया है।[3] योगमें एकतानता ही मुख्य है, फिर चाहे वह सूक्ष्म-ब्रह्ममें हो, अथवा शुद्ध आत्म-स्वरूपमें। समाधि और ध्यानकी एकता प्रतिपादित की जा चुकी है, अतः योगीको ध्यानी भी कह सकते हैं। ऋषि, मुनि, यति, भिक्षु, तापस, संशित, व्रती, तपस्वी, संयमी, वर्णी और साधु भी योगीके ही पर्यायवाची शब्द हैं।[4]

योगि-भक्ति

आचार्य कुन्दकुन्दने प्राकृत योगि-भक्तिमें योगियोंकी महिमाका विशद वर्णन किया है। उन्होंने योगियोंको प्रायः अनगार शब्दसे अभिहित किया है। गुणधर अनगारोंकी वन्दना, उन्होंने 'अंजलिमुकुलितहस्त' होकर, हृदयसे की है।[5]

---

१. 'युज समाधौ'
देखिए, धनञ्जयनाममाला : अमरकीर्तिके भाष्यसहित, पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७, पृष्ठ ३।

२. 'आत्मरूपे स्थीयते जलभृतघटवत् निश्चलेन भूयते स समाधिः'
पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति और श्रुतसागरी टीका सहित, पं० हीरालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फ़रवरी १९५४, ६।७२ की श्रुतसागरी टीका, पृ० १८२।

३. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' का भाष्य।
देखिए, पातञ्जलयोगदर्शन : श्री भगीरथ मिश्र सम्पादित, लखनऊ विश्व विद्यालय, लखनऊ, १।२, पृ० ५।

४. ऋषिर्मुनिर्यतिर्भिक्षुस्तापसः संशितो व्रती।
तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च पातु वः॥
धनञ्जयनाममाला : अमरकीर्तिके भाष्यसहित, पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७, ३रा पद्य, पृष्ठ २।

५. थोस्सामि गुणधराणं अणयाराणं गुणेहि तच्चेहिं।
अंजलिमउलियहत्थो अभिवंदंतो सविभवेण॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत योगि-भक्ति : पहली गाथा, पृ० १६४।

एक दूसरे स्थानपर उन्होंने, ज्ञानोदकसे निषिक्त, शील गुणसे विभूषित, तपःसुगन्धिसे सुगन्धित, राग-द्वेषसे रहित और शिवपथके नायक ऐसे योगियोंको नमस्कार किया है।[1]

इन्हीं आचार्यने तिरुकुरलमें लिखा है, "यदि तुम इन्द्रियोंको जीतनेवाले महर्षियोंकी शक्तिको मापना चाहते हो, तो देवोंके सम्राट् इन्द्रकी ओर देखो, जो उन महर्षियोंकी शक्तिमें सदा तल्लीन रहता है।"[2]

आचार्य समन्तभद्रने महान् योगी मुनिसुव्रतनाथकी वन्दना करते हुए लिखा है, "आप अनुपम योगबलसे आठों पाप-मलरूप कलंकोंको, भस्मीभूत करते हुए, संसारमें न पाये जानेवाले सौख्यको प्राप्त हुए हैं। आप मेरी संसार-शान्तिके लिए भी निमित्तभूत होवें।"[3]

आचार्य पूज्यपादने संस्कृत योगि-भक्तिमें, योगियोंके द्वारा किये गये विविध तपोंका विशद वर्णन किया है। अन्तमें उन्होंने योगीकी स्तुति करते हुए लिखा है, "तीन योग धारण करनेवाले, बाह्य और आभ्यन्तर रूप तपसे सुशोभित, प्रवृद्ध पुण्यवाले, मोक्षरूपी सुखकी इच्छा करनेवाले मुनिराज, मुझ स्तुतिकर्त्ताको सर्वोत्तम शुक्लध्यान प्रदान करें।"[4]

---

१. णाणोदयाहिसित्ते सीलगुणविहूसिये तवसुगन्धे।
ववगयरायसुदड्ढे सिवगइपहणायगे वन्दे॥
देखिए वही: १४वीं गाथा, पृ० १७९।

२. विजिताक्ष महर्षीणां शक्तिरत्रास्ति कीदृशी।
ज्ञातुमिच्छसि चेत्तर्हि पश्य भक्तं सुराधिपम्॥
एलाचार्य (कुन्दकुन्दाचार्य), कुरलकाव्य: पं० गोविन्दराय जैन, हिन्दी-संस्कृत-अनूदित, महरौनी—झाँसी, वीर नि० सं० २४८०, मुनि माहात्म्यम्-संस्कृत: ५वाँ श्लोक, पृ०।

३. दुरित-मल-कलङ्कमष्टकं निरुपम-योग-बलेन निर्दहन्।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र: पं० जुगलकिशोर सम्पादित, हिन्दी-अनूदित, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, जुलाई १९५१, २०५, पृ० ७३।

४. इति योगत्रयधारिणः सकलतपशालिनः प्रवृद्धपुण्यकायाः।
परमानन्दसुखैषिणः समाधिमग्र्यं दिशन्तु नो भदन्ताः॥
दशभक्त्यादिसंग्रह: श्री सिद्धसेन सम्पादित, सलाल, [साबरकाँठा], गुजरात, वी० नि० सं० २४८१, आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत योगि-भक्ति: ८वाँ पद्य, पृ० १५६।

तीर्थंकरके गणधरोंको 'योगि' संज्ञासे अभिहित किया जाता है। आचार्य जिनसेनने भगवान् महावीरके प्रधान गणधरको 'योगीन्द्र'[१] और 'महायोगी'[२] कहा है। उनकी वन्दना करते हुए आचार्यने कहा, "हे देव! आप महायोगी हैं, अतः आपको नमस्कार हो, आप महा बुद्धिमान् हैं, अतः आपको नमस्कार हो, आप जगत्के रक्षक और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक हैं, अतः आपको नमस्कार हो।"[३] उनको ही आचार्यने परमबन्धु, परमगुरु, भक्तोंको ज्ञान-सम्पत्ति देनेवाला तथा विश्वकी धर्मसंहिताका निर्माता स्वीकार किया है।[४]

पं० आशाधरने अपने सहस्रनाममें 'योगि-शतक'की भी रचना की है। इसमें उन्होंने भगवान् जिनेन्द्रको योगी माना है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा, "हे भगवन्! आप योगीन्द्र हैं, क्योंकि आप योगियों अर्थात् ध्यानियोंके इन्द्र हैं।"[५] एक-दूसरे स्थानपर उन्होंने कहा, "हे भगवन्! आप योगज्ञ हैं, क्योंकि आप योग अर्थात् धर्म्य और शुक्ल दो ध्यानोंका अनुभव करते हैं।"[६]

---

१. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : प्रथम भाग, पं० पन्नालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७, २३।१९४, पृ० ५७१।

२. देखिए वही : २।६५, पृष्ठ ३५।

३. 'महायोगिन् नमस्तुभ्यं महाप्रज्ञ नमोऽस्तु ते।
नमो महात्मने तुभ्यं नमः स्तात्ते महर्द्धये॥'
भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : भाग १, पं० पन्नालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७, २।६५, पृ० ३५।

४. त्वमेव परमो बन्धुस्त्वमेव परमो गुरुः।
त्वामेव सेवमानानां भवन्ति ज्ञानसम्पदः॥
त्वयैव भगवन् विश्वा विहिता धर्मसंहिता।
अत एव नमस्तुभ्यममी कुर्वन्ति योगिनः॥
देखिए वही : २।७४, २।७५, पृष्ठ ३७।

५. 'योगिनां ध्यानिनामिन्द्रः स्वामी'।
पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : पं० हीरालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फ़रवरी १९५४, ६।७५ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ९२।

६. 'योगं धर्म्य-शुक्लध्यानद्वयं जानात्यनुभवतीति'।
देखिए वही : ६।८२की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ९६।

५—आचार्य-भक्ति

'आचार्य'की व्युत्पत्ति

'आचार्य' शब्द 'चर' धातुसे बना है। 'चर'का अर्थ है चलना अथवा आचरण करना। 'चरेराङि चागुरौ'[1] से 'आचार्यते आचार्यः' व्युत्पत्ति निष्पन्न होती है। इसका अर्थ है कि आचार्य वह है, जिसके उत्तम चारित्रका अन्य जन अनुकरण करने लगें।

अमरकोशके अनुसार आचार्य वह है, जो मन्त्रकी व्याख्या करनेवाला, यज्ञमें यजमानको आज्ञा देनेवाला और व्रतोंका धारण करनेवाला हो।[2] जैनाचार्यके ३६ गुणों[3] में महाव्रतों[4] का उत्तम स्थान है। जैनाचार्यका मुख्य गुण मन्त्रकी व्याख्या करना ही है। सर्वज्ञकी वाणी मन्त्र कहलाती है,[5] उसकी व्याख्या करनेका अधिकार केवल आचार्यको ही होता है। अभिधानराजेन्द्रकोशमें आचार्यको नमस्कार

---

१. वामन जयादित्य, काशिकावृत्तिः एस० मिश्रा सम्पादित, तृतीय संस्करण, बनारस, १९५२ ई०, ४।२।१४।

२. 'मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य आदेष्टा त्वध्वरे व्रती'।
देखिए अमरसिंह, अमरकोश : संक्षिप्त माहेश्वरी टीका युक्त, आचार्य नारायणराम संशोधित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४०, १३६०वीं पंक्ति।

३. १२ तप—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। १० धर्म—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य। ५ आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार, चारित्राचार। ६ आवश्यक—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान। ३ गुप्ति—कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति।
किशनसिंह, क्रियाकोश : जैन पुस्तक भवन, हरीसन रोड, कलकत्ता, पृष्ठ १२०।

४. हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह रूप पाँच पापोंके पूर्ण त्यागको महाव्रत कहते हैं। इस भाँति अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत कहलाते हैं।
देखिए, उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : चौरासी, मथुरा, ७।१,२, पृ० १५६-१५७।

५. 'मन्त्रं श्रुतं कृतवान् इति मन्त्रकृत्'से भगवान् जिनेन्द्र मन्त्रकृत् कहलाते हैं।
पं० आशाधर, सहस्रनाम : पं० हीरालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ५।६८की स्वोपज्ञवृत्ति पृष्ठ ८८।

करनेसे विद्या और मन्त्रकी सिद्धि स्वीकार की गयी है।[1]

धर्मशास्त्रोंके आधारपर आचार्यकी परिभाषा

पंचपरमेष्ठियोंकी गणनामें अरिहंत और सिद्धके पश्चात् आचार्यका ही स्थान है। आचार्यकी परिभाषा बतलाते हुए कुन्दकुन्दाचार्यने अष्टपाहुडमें लिखा है, "जो ज्ञानमय हैं, संयममें शुद्ध हैं, सुवीतरागी हैं, और साधारण मुनियोंको कर्मोंका क्षय करनेवाली शुद्ध शिक्षा–दीक्षा देते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी जिनेन्द्रदेवके साक्षात् प्रतिविम्ब अर्थात् सदृश हैं।"[2]

आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है, "जो स्वयं व्रतोंका आचरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं, वे ही आचार्य कहलाते हैं।"[3]

श्री योगीन्दुने परमात्मप्रकाशमें कहा है, "आचार्य वह ही हैं, जो निश्चय और व्यवहाररूप पंचाचारोंसे युक्त, शुद्धोपयोगकी भावनासे सहित, वीतराग निर्विकल्पक समाधिका स्वयं आचरण करता है और दूसरोंको भी करवाता है।"[4]

---

१. भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा।
आयरिअ नमुक्कारेण विज्जमंता य सिज्झंति॥
अभिधानराजेन्द्रकोश, ५वाँ भाग, १०९७वीं गाथा : पृ० १३६६।

२. जिणबिम्बणाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा॥
आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड़, बोधपाहुड : १६वीं गाथा।

३. 'तत्र आचरन्ति तस्माद् व्रतानि इति आचार्यः'
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, ९।२४ का भाष्य, पृष्ठ ४४२।

४. विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानबहिर्द्रव्येच्छा-निवृत्तिरूपं तपश्चरणं स्वशक्त्यनवगूहनवीर्यरूपाभेदपञ्चाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावनान्तर्भूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं स्वयमाचरन्त्यन्यानाचारयन्तीति भवन्त्याचार्यास्तानहं वन्दे।
श्री योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये सम्पादित, श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९३७ ई०, १।७ की ब्रह्मदेवकृत संस्कृतवृत्तिः पृष्ठ १५, इन्द्रनन्दि, नीतिशास्त्र।

इस भाँति यह सिद्ध है कि, आचार्य स्वयं उच्च चारित्रका पालन करता है और दूसरोंको भी करवाता है। वह मुनि-संघका अग्रणी होता है। मुनि-जीवनके संचालनमें उसकी आज्ञा अन्तिम और मान्य होती है। इन्द्रनन्दिके नीति-शास्त्रमें लिखा है, "पंचाचारमें रत, मूलाचारका जानकार और चतुर्वर्ण संघका अग्रणी आचार्य कहा जाता है।"[1]

आचार्यके पर्यायवाची शब्द और उनकी व्युत्पत्ति

आचार्यको 'प्रशस्ता वागस्तीत्यस्य वाग्मी, प्रजानातीति प्राज्ञः, मेधास्त्यस्य मेधावी, वेत्ति जानातीति विद्वान्, अभिगतं रूपं (विद्या) येनाभिरूपः, विविधं चष्टे विचक्षणः, पण्डा (बुद्धिः) सञ्जाताऽस्येति पण्डितः, सूते बुद्धिं सूरिः और न्याये विचारे नियुक्तो नैयायिकः, कहते हैं।[2]

आचार्य-भक्ति

शुद्ध-भावसे आचार्यमें अनुराग करना, आचार्य-भक्ति कहलाती है।[3] अनुरागसे अनुप्राणित होकर ही भक्त, कभी तो आचार्योंको नये-नये उपकरणोंका दान देता है, कभी विनयपूर्वक उनके सामने जाता है, कभी उनके प्रति आदर दिखाता है, और कभी शुद्ध मनसे उनके पैरोंका पूजन करता है।[4]

'आचार्यमें अनुराग'का तात्पर्य है—आचार्यके गुणोंमें अनुराग। कुन्दकुन्दाचार्यने आचार्योंको प्रणाम किया है, किन्तु उन्हींको, जो उत्तम-क्षमा, प्रसन्नभाव, वीत-

---

१. पञ्चाचाररतो नित्यं मूलाचारविदग्रणीः।
चतुर्वर्णस्य संघस्य यः स आचार्य इष्यते॥
इन्द्रनन्दि, नीतिशास्त्र।

२. धनञ्जयनाममाला: अमरकीर्त्तिके भाष्यसहित, पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं. २००७, ११४वें श्लोकका अमरकीर्त्तिकृत भाष्य, पृष्ठ ५६।

३. 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः' आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि: पं० फूलचन्द्र सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२, ६।२४ का भाष्य, पृष्ठ ३३९।

४. आचार्याणामपूर्वोपकरणदानं सम्मुखगमनं सम्भ्रमविधानं पादपूजनं दानसम्मानादिविधानं मनःशुद्धियुक्तोऽनुरागश्चाचार्यभक्तिरुच्यते।
आचार्य श्रुतसागर सूरि, तत्त्वार्थवृत्तिः पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००५, ६।२४की व्याख्या, पृ० २२८-२२९।

रागता, और तेजस्वितासे युक्त हैं,[१] तथा जो गगनकी भाँति निर्लिप्त और सागर-की भाँति गम्भीर हैं ।[२]

आचार्य पूज्यपादने संस्कृत आचार्यभक्तिमें, आचार्यके विविध गुणोंका विशद वर्णन किया है । ऐसे गुणोंसे संयुक्त आचार्योंकी भक्तिमें उनकी पूर्ण आस्था है । योगमें स्थिर, तपकी नानाविधियोंके सम्पादनमें अग्रणी, पाप-कर्मके उदयसे होने-वाले जन्म-जरा-मरणके बन्धनोंसे मुक्त आचार्योंको, 'मुकुलीकृतहस्तकमलशोभित-शिरसा' नमस्कार करनेसे, अविनश्वर, निर्दोष और अनन्त मोक्ष-सुख प्राप्त होता है ।[३]

श्री यतिवृषभने भी आचार्यके गुणोंका वर्णन कर, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है ।[४] श्री शिवार्यकोटिने भगवती आराधनामें, विशुद्ध

---

१. उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा ।
कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो ॥
दशभक्ति : शोलापुर, सन् १९२१, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत आचार्य-भक्ति : ५वीं गाथा, पृष्ठ २१० ।

२. गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्वमुणिवसहा ।
एरिस गुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो ।।
देखिए वही : आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत आचार्यभक्ति : ६ठी गाथा, पृष्ठ २१० ।

३. ईदृशगुणसम्पन्नान्युष्मान् भक्त्या विशालया स्थिरयोगान् ।
विधिनानारतमग्र्यान्मुकुलीकृवहस्तकमलशोभितशिरसा ।।
अभिनौमि सकलकलुषप्रभवोदयजन्मजरामरणवन्धनमुक्तान् ।
शिवमचलमनघमक्षयमव्याहतमुक्तिसौख्यमस्त्विति सततम् ।
दशभक्त्यादिसंग्रह : श्री सिद्धसेन सम्पादित, सलाल, साबरकाँठा, गुजरात, आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत आचार्यभक्ति : १०,११ श्लोक, पृष्ठ १६३ ।

४. पंचमहव्वयतुंगा तक्कालिय स पर समय सुदधारा ।
णाणा गुणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ॥
श्री यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : भाग १, डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये और डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, पं० बालचन्द हिन्दी-अनूदित, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९४३ ई०, पहला अध्याय, तीसरी गाथा ।

भावसे आचार्योंकी तीव्र भक्ति करनेकी बात कही है।[1] श्री सोमदेवसूरिने अष्ट द्रव्योंसे आचार्यकी पूजा करनेका निर्देश किया है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है, "तत्त्व-ज्ञानके प्रकाशसे जिन्होंने, कर्मोंके बन्धरूपी अन्धकारको दूर भगा दिया है, ऐसे आचार्यके चरण-युगलकी मैं चन्दनसे पूजा करता हूँ।"[2]

आचार्योंका स्मरण

आचार्योंका स्मरण, जिनेन्द्रके स्मरणकी भाँति ही मंगल देनेवाला होता है। अनेक आचार्योंने अपनेसे पूर्व हुए आचार्योंका स्मरण, केवल इसलिए किया है, जिससे उनके शास्त्र, निर्विघ्न रूपसे समाप्त हो सकें। आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणके प्रारम्भमें ही समन्तभद्र, सिद्धसेन, भट्टाकलंक, पात्रकेशरी, प्रभाचन्द, शिवकोटि, जटासिंहनन्दि और वीरसेन आदिकी वन्दना मंगल-प्राप्तिके लिए ही की है।[3]

श्रीसिद्धसेनने पहली द्वात्रिंशिकामें समन्तभद्रका[4], और श्रीजिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणमें समन्तभद्र और सिद्धसेन दोनोंका गौरवपूर्ण स्मरण किया है।[5]

---

१. अरहंतसिद्धचेदिय, पवयण आयरिय सव्वसाधूसु।
तिव्वं करेदि भत्ती, णिव्विदिंगिच्छेण भावेण॥
शिवार्यकोटि, भगवती आराधना : मुनि श्री अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अष्टम पुष्प, बम्बई, स्वर्गीय पण्डित सदासुखलालजी कृत भाषावचनिका सहित, वि. सं. १९८९, पृष्ठ ३०१।

२. तत्त्वालोकावगमगलितध्वान्तबन्धस्थितीना
मिष्टिं तेषामहमुपनये पादयोश्चन्दनेन।
K. K. Handiqui, Yasastilak and Indian Culture, Jaina-Samskriti Samrakshaka Sangha, Sholapur, 1949, P.311.

३. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : पहला भाग, पं० पन्नालाल सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं २००७, १।४१–५९, पृ० १०।

४. य एष षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।
अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः॥
आचार्य सिद्धसेन, द्वात्रिंशिका-स्तोत्र : अवचूरि सहित, श्री उदयसागरसूरि सम्पादित, गुजराती व्याख्यायुक्त, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०३ ईस्वी, पहली द्वात्रिंशिका : १३वाँ पद्य।

५. श्रीजिनसेन (शक संवत् ७०५) हरिवंशपुराण, माणिकचन्द्र दि० जैन संस्कृत ग्रन्थमाला, बम्बई, द्वितीय भागका अन्त, गुर्वावली, २९-३० श्लोक।

श्री वादिराजसूरिने 'पार्श्वनाथचारित्र'के प्रारम्भमें ही आचार्य गृद्धपिच्छ, स्वामी समन्तभद्र, आचार्य अकलंक और भगवज्जिनसेन आदि अनेक आचार्योंकी वन्दना भक्तिके साथकी है।[१]

रत्नसूरिने अममचरित्र (वि. सं. १२५२) में, प्रद्युम्नसूरिने समरादित्य (वि. सं. १३२४) में और श्रीवादिदेवसूरिने स्याद्वादरत्नाकर (१२-१३ शताब्दी विक्रम) में सिद्धसेन दिवाकरकी तर्कप्रधान बुद्धिकी सराहना करते हुए, उनकी वन्दना की है।[२] उनका पूर्ण विश्वास था कि दिवाकरके आशीर्वादसे हमारा अज्ञानान्धकार अवश्य दूर हो जायेगा, क्योंकि उनके उदय होनेपर वादिगणरूपी उलूक अस्तंगत हो जाते हैं।[३]

आचार्य-भक्तिका फल

आचार्योंकी भक्ति करनेसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। कुन्दकुन्दाचार्यका कथन है, "मुझ अज्ञानीके द्वारा आपके गुणोंके समूहकी जो स्तुति की गयी है, वह गुरु-भक्तिसे युक्त मुझको बोधि-लाभ देवे।"[४] इन्हीं आचार्यने एक दूसरे स्थानपर कहा है कि, आचार्योंकी भक्ति करनेवाला, अष्ट-कर्मोंका नाश करके, संसार-समुद्रसे पार हो जाता है।[५]

---

१. श्रीमद्वादिराजसूरि, पार्श्वनाथचरित्र (वि. सं. १०८२), पं० श्रीलाल जैन, हिन्दी अनूदित, जयचन्द्र जैन प्रकाशित, कलकत्ता, वी. नि० सं. २४४८, पहला सर्ग, श्लोक १६–३०, पृ० ६–११।

२. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश : श्री वीर शासन संघ कलकत्ता, जुलाई १९५६, पृष्ठ ५७२।

३. तमस्तोमं स हन्तु श्री सिद्धसेनदिवाकरः।
यस्योदये स्थितं मूकैरुलूकैरिव वादिभिः॥
प्रद्युम्नसूरि (१४वीं शताब्दी विक्रम), समरादित्य : पं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश : कलकत्ता, पृ० ५७२।

४. तुम्हं गुणगणसंथुदि अजाणमाणेण जो मया वुत्तो।
देउ मम बोहिलाहं गुरुभत्तजुदत्थओ णिच्चं॥
दशभक्ति : शोलापुर, सन् १९२१, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत आचार्य-भक्ति : १०वीं गाथा, पृ० २१३।

५. गुरुभक्तिसंयमाभ्यां च तरन्ति संसारसागरं घोरम्।
छिन्दन्ति अष्टकर्माणि जन्म-मरणे न प्राप्नुवन्ति॥
देखिए वहीं : क्षेपक श्लोक, पृ० २१४।

आचार्य उमास्वातिने आचार्य-भक्तिको, तीर्थंकर नाम-कर्मके आस्रवका कारण माना है।[१] अर्थात् आचार्यकी भक्ति करनेवाला तीर्थंकरके पदको प्राप्त कर सकता है।

युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरिके स्मरणमें, स्थान-स्थानपर 'दादावाणियों'की रचना हुई है। उनमें सूरिजीकी पादुकाएँ और मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। वे भक्तोंकी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिए साक्षात् कल्पतरुके समान हैं।[२]

इन महर्षियोंके गुण-स्तवनको पढ़ने और सुनने मात्रसे ही सिद्धि-सुख प्राप्त होता है।[३]

६—पंचपरमेष्ठि-भक्ति

पंच-परमेष्ठी

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोकके सर्व-साधु पंच-परमेष्ठी कहलाते हैं। यह क्रम, साधुसे अरहन्त तक, उत्तरोत्तर अधिकाधिक आत्म-शुद्धिकी दृष्टिसे किया गया है। सिद्धके अधिक पवित्र होनेपर भी, लोकोपकार करनेके कारण अरहन्तको प्रथम स्थान मिला है। दोनोंका भेद, सिद्ध-भक्तिमें लिखा जा चुका है। आचार्यका स्वरूप भी आचार्य-भक्तिमें कहा गया है।

उपाध्याय वह है, जिसके पास जाकर मोक्षके लिए शास्त्रोंका अध्ययन किया जाता है।[४] वह अज्ञानरूपी अन्धकारमें भटकते हुए जीवोंको ज्ञानरूपी प्रकाश

---

१. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, मथुरा, पृ० १५३।

२. अगरचन्द नाहटा, युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि : पृष्ठ १०-११।

३. जो पढइ गुणइ निसुणइ इणमो गुणसंथवं महरिसीणं।
सिरिधम्मघोसमणहं काउं सो लहइ सिद्धिसुहं ॥
श्रीधर्मघोषसूरि (वि. सं. १३०२-१३२९), ऋषिमंडलस्तव : संस्कृत टीका सहित, २०९वाँ पद्य, जैनस्तोत्र सन्दोह : प्रथम भाग, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, वि. सं० १९८९, पृष्ठ ३३९।

४. 'मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः।'
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं० २०१२, ९।२४ का भाष्य, पृष्ठ ४४२।
और
'मोक्षार्थमुपेत्याधीयते शास्त्रं तस्मादित्युपाध्यायः।'
आचार्य श्रुतसागरसूरि, तत्त्वार्थवृत्ति : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ ३०४।

प्रदान करता है।[1] उपाध्याय विद्वान् होता है और चरित्रवान् भी। उपाध्याय वह ही हो सकता है, जो साधुके चरित्रको पूर्ण रूपसे पाल चुका हो।[2] जहाँतक शिक्षा देनेका सम्बन्ध है, आचार्य और उपाध्याय दोनों समान हैं, किन्तु दीक्षा देना और संघपर अनुशासन करना, आचार्य ही का अधिकार है।

साधु वह है, जो चिरकालसे; जिनदीक्षामें प्रव्रजित हो चुका हो।[3] उसे दृढ़तापूर्वक शील-व्रतोंका पालन करना चाहिए और रागसे रहित तथा विविध विनयोंसे युक्त होना ही चाहिए।[4] यद्यपि उसका सम्बन्ध शिक्षा-दीक्षा देनेसे नहीं होता, फिर भी रत्न-त्रयके साधना-पथपर वह आचार्य-उपाध्यायकी भाँति ही बढ़ता है।

परमेष्ठी शब्द और उसकी व्याख्या

पं० आशाधरने 'परमेष्ठि' शब्दकी व्युत्पत्ति 'जिनसहस्रनाम' की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखी है, "परमे उत्कृष्टे इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-गणेन्द्रादिवन्दिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी।[5]" वह परमपद शुद्ध आत्मा ही है। आचार्य कुन्दकुन्दने मोक्ष-पाहुडमें

---

१. अण्णाण घोरतिमिरे दुरंततीरह्मि हिंडमाणाणं।
भवियाणुज्जोययरा उवज्झया वरमदिं देंतु ॥
श्री यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर प्रकाशन, १९४३ ई०, ४थी गाथा।

२. जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥
नेमिचन्द्राचार्य, द्रव्यसंग्रह : पं० भुवनेन्द्र सम्पादित, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, वी० नि० सं० २४६२, ५३वीं गाथा, पृ० ४०।

३. 'चिरप्रव्रजितः साधुः'
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ९।२४, पृ० ४४२।

४. थिरधरिय सीलमाला ववगयराया जसोहपडहत्था।
बहुविणयभूसियंगा सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥
श्री यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, शोलापुर, १९४३ ई०, ५वीं गाथा।

५. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं० २०१०, २।२३ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ ६५।

लिखा है, "अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, मेरी आत्मामें ही प्रकट हो रहे हैं, अतः आत्मा ही मुझे शरण है।[1]" श्री योगीन्दुने भी कहा, "यद्यपि वे सिद्ध परमेष्ठी व्यवहार नयसे लोकके शिखरके ऊपर विराजते हैं, किन्तु शुद्ध निश्चय नयसे वे अपने आत्मस्वरूपमें ही स्थित हैं।[2]"

परमेष्ठी वह है, जो मलरहित, शरीररहित, अनिन्द्रिय, केवलज्ञानी, विशुद्धात्मा, परमजिन और शिवङ्कर हो।[3] मलरहितका तात्पर्य है—अठारह दोषों[4] से शुद्ध होना। यह परमेष्ठीका सबसे बड़ा गुण है। इसीको आचार्य समन्तभद्रने 'प्रदोषमुक्',[5] श्री सिद्धसेनने 'उक्तदोषैर्विवर्जितः'[6] और आचार्य पूज्यपादने[7]

---

१. अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते विहु चिट्ठहि आधे तम्हा आदा हु मे सरणं॥
आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड़, मोक्षपाहुड : १०४वीं गाथा।

२. ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत।
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिँ विमलु णियंत॥
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३७ ई०, १।५, पृष्ठ ११.

३. मलरहिओ कलचित्तो अणिन्दओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवङ्करो सासओ सिद्धो॥
आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड़, मोक्ष पाहुड : ६ठी गाथा।

४. क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, स्वेद और खेद।
आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०, १।६, पृ० ३९।

५. क्षुत्पिपासा-जरातंक-जन्माऽन्तक-भय-स्मयाः।
न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते प्रदोषमुक्॥
देखिए वही : १।६, पृ० ३९.।

६. आचार्य सिद्धसेन, द्वात्रिंशिकास्तोत्र : अवचूरिसहित, श्री उदयसागरसूरि सम्पादित, गुजराती व्याख्या युक्त, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०३ ई०, देखिए स्वयम्भूस्तुति।

'निर्मलः केवलः शुद्धो'[१] कहकर अभिव्यक्त किया है।

णमोकार मन्त्र और उसका महत्त्व

जैनोंका प्रसिद्ध 'णमोकार मन्त्र' पंच परमेष्ठीसे ही सम्बन्धित है। इसमें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोकके सर्व साधुओंको नमस्कार किया गया है।[२]

जैन-परम्परामें 'णमोकार मंत्र', सृष्टिकी भाँति ही अनादि निधन माना जाता है। भगवान् महावीरने १४ पूर्वोंकी विद्या, अपने गणधरोंको स्वयं प्रदान की थी।[3] उनमें विद्यानुवादपूर्वका प्रारम्भ णमोकार मंत्रसे ही हुआ था। विद्यानुवाद; मंत्र-विद्याका अपूर्व ग्रन्थ था।[४] श्री मोहनलाल भगवानदास झावेरीने, जैन मंत्र-शास्त्रका प्रारम्भ, ईसासे, ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथके समयसे स्वीकार किया है।[५] हो सकता है कि पार्श्वनाथके समयमें भी '१४ पूर्व', 'पहलेसे

---

१. निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परमात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥
आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद, समाधितन्त्र : वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ६ठा श्लोक।

२. णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

३. The original doctrine was contained in the fourteen puvvas (purvas) "old texts," which Mahavira himself had taught to his Ganadharas.
Dr. Jagdish chandra Jain, Life in Ancient India as depicted in the Jain Canons, New Book Company, Ltd, Bombay, 1947, p. 32.

४. कहा जाता है कि मुनि सुकुमारसेन (७वीं शताब्दी ईसवी) के विद्यानुशासनमें, विद्यानुवादकी बिखरी सामग्रीका संकलन हुआ है। विद्यानुशासनकी हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेरके शास्त्र भण्डारोंमें मौजूद है।

५. Mr. Jhaveri thinks that the Mantrasastra among the Jains is also of hoary antiquity. He claims that its antiquity goes back to the days of Parsvanatha, the 23rd Tirthankara, who flourished about 850 B. C.
Dr. A. S. Altekar, Mantrasastra and Jainism, Jain Cultural Research Society, Banaras Hindu University, P. I.

आयी हुई विद्या' के रूपमें प्रतिष्ठित हों।

उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्रीके आधारपर, णमोकार मंत्रका प्राचीनतम उल्लेख हाथीगुम्फके शिलालेखमें प्राप्त होता है ;[1] जिसके निर्माता सम्राट् खारबेल ईसासे १७० वर्ष पूर्व हुए हैं।[2]

लिखित साहित्यका जहाँतक सम्बन्ध है, आचार्य पुष्पदन्त भूतबलिका षट्खण्डागम सबसे पहला ग्रन्थ है,[3] जिसका आरम्भ णमोकार मंत्रके मंगलाचरणसे हुआ है। पुष्पदन्त भूतबलिका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी माना जाता है।[4]

णमोकार मंत्रमें अपूर्व शक्ति है। उसके उच्चारणसे इहलौकिक वैभव तो मिलते ही हैं, पारलौकिक सिद्धि भी प्राप्त होती है। भद्रबाहु स्वामीने उपसर्गहर स्तोत्रमें लिखा है, "पञ्चनमस्कार मन्त्रसे, चिन्तामणि और कल्पवृक्षसे भी अधिक महत्त्वशाली सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, जिसके कारण जीवको मोक्ष मिलता है।[5] आचार्य कुन्दकुन्दका विश्वास है कि णमोकार मन्त्रसे, भव-भवमें सुख मिलता

---

१. "नमो अरहंतानं [।] नमो सवसिधानं [।]"
अर्थात् अरहन्तोंको नमस्कार, सब सिद्धोंको नमस्कार।
देखिए खुशालचन्द्र गोरावाला, कलिङ्गाधिपति खारबेल, हाथीगुम्फ शिलालेखका मूल, जैनसिद्धान्त भास्कर : जैनसिद्धान्त भवन आरा, भाग १५, किरण २, जनवरी १९४९, पृष्ठ १२२।

२. V. A. Smith, Early History of India, Oxford, 1908, p. 38, N. I.

३. यह ग्रन्थ श्री वीरसेनाचार्यकी संस्कृत टीकाके साथ, डॉ० हीरालाल जैनके सम्पादनमें अमरावतीसे वि० सं० १९९६में प्रकाशित हो चुका है।

४. देखिए सुमेरचन्द दिवाकर, महाबन्ध (धवल सिद्धान्त) : प्रथम भाग, प्रस्तावना, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मई १९४७, पृष्ठ २२।

५. तुह सम्मत्ते लद्धे चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं जीवा अयरामरं ठाणं ॥
देखिए जैनस्तोत्र सन्दोह : भाग २, मुनि चतुरविजय सम्पादित, साराभाई मणिलाल नवाब प्रकाशित, अहमदाबाद, वि० सं० १९९२, भद्रबाहु, उपसर्गहरस्तोत्र : चौथी गाथा, पृष्ठ ११।

है।[१] आचार्य पूज्यपादने भी लिखा है, "यह पंचनमस्कारका मन्त्र सब पापोंको नष्ट करनेवाला है और जीवोंका कल्याण करनेमें सबसे ऊपर है।"[२]

मुनि वादिराज (११वीं शताब्दी विक्रम) ने एकीभावस्तोत्रमें कहा है, "जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मन्त्रको सुनकर देव हो गया, तब यह निश्चित है कि उस मन्त्रका जाप करनेसे यह जीव इन्द्रकी लक्ष्मीको पा सकता है।"[३] श्री जिनप्रभसूरि (१४वीं शताब्दी विक्रम) ने भी 'पंचपरमेष्ठिनमस्कारकल्प'में लिखा है, "इस मन्त्रकी आराधना करनेवाले योगीजन, त्रिलोकके उत्तम पदको प्राप्त कर लेते हैं। यहाँतक ही नहीं, किन्तु सहस्रों पापोंका सम्पादन करनेवाले और सैंकड़ों जन्तुओंकी हत्या करनेवाले तिर्यञ्च भी इस मन्त्रकी भक्तिसे स्वर्गमें पहुँच जाते हैं।"[४]

---

१. अरुहा सिद्धायरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठि।
एदे पंच णमोयारा भवे भवे मम सुहं दिंतु॥
दशभक्तिः, शोलापुर, १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत पंचगुरुभक्ति: ७वीं गाथा, पृष्ठ ३५८।

२. एष पञ्चनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः।
मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथमं मङ्गलं भवेत्॥
देखिए वही: आचार्य पूज्यपाद, संस्कृतपंचगुरुभक्ति: ७वाँ श्लोक पृष्ठ ३५३।

३. प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम्।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम्॥
श्री वादिराजसूरि, एकीभावस्तोत्र: काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६, १२वाँ श्लोक, पृष्ठ १९।

४. एतमेव महामन्त्रं समाराध्येह योगिनः।
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमं पदम्॥
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः॥
जिनप्रभसूरि, विविध तीर्थकल्प: मुनि जिनविजय सम्पादित, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्ति-निकेतन, बंगाल, १९३४ ई०, प्रथम भाग, पंचपरमेष्ठिनमस्कारकल्प: ५—६ श्लोक, पृ० १०८।

जैनाचार्योंने णमोकार मन्त्रकी शक्तिको देवता कहा है। उसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ही प्रकारकी शक्तियाँ सन्निहित हैं। वे मोहके दुर्गमनको रोकनेमें पूर्ण रूपसे समर्थ हैं।[1]

पंचपरमेष्ठि-भक्ति

पंच-परमेष्ठीकी भक्ति करनेवाला जीव, अष्टकर्मोंका नाश कर, संसारके आवागमनसे छूट जाता है। उसे सिद्धि-सुख और बहुत-मान प्राप्त होता है।[2]

पंचपरमेष्ठी लोकोत्तम हैं, वीर हैं, नर, सुर तथा विद्याधरोंसे पूज्य हैं। संसारके दुःखाभिभूत प्राणियोंके लिए, वे ही एकमात्र शरण हैं। उनका स्वभाव मंगलरूप है।[3] आचार्य पूज्यपादने भी उनको मंगलरूप ही माना है। उनकी भक्ति करनेसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी प्राप्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करनेमें पूर्ण रूपसे समर्थ हैं।[4] आचार्य समन्तभद्रने पंचपरमेष्ठीकी

---

१. स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनम्
पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥
धर्मध्यानदीपक : मांगीलाल हुकुमचन्द पांड्या, कलकत्ता, नमस्कार मन्त्र : तीसरा श्लोक, पृष्ठ २।

२ एण थोत्तेण जो पंचगुरुवंदए, गुरु य संसारघणवल्लि सो छिंदये।
लहइ सो सिद्धिसोक्खाइ बहुमाणणं, कुणइ कम्मिधणं पुंजपज्जालणं ॥
दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत पंच-गुरुभक्ति : ६ठी गाथा, पृष्ठ ३५७।

३. झायहि पंचवि गुरवे मंगलचउसरण लोयपरियरिए।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायणे वीरे ॥
आचार्य कुन्दकुन्द : अष्टपाहुड, श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड़, भावपाहुड : १२४वीं गाथा।

४. अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायाः सर्वसाधवः,
कुर्वन्तु मङ्गलाः सर्वे निर्वाणपरमश्रियम्।
सर्वान् जिनेन्द्रचन्द्रान्सिद्धानाचार्यपाठकान् साधून्।
रत्नत्रयं च वन्दे रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या ॥
दशभक्त्यादिसंग्रह : ८, ९ श्लोक, पृष्ठ १६७–१६८।

भक्तिसे सम्यग्दर्शनका प्राप्त होना लिखा है।[1]

श्री शिवार्यकोटिने भगवती आराधनामें कहा है कि जो पुरुष पंच-परमेष्ठीमें भक्ति नहीं करता, उसका संयम धारण करना, ऊसर खेतमें बीज बोनेके समान है।[2] पंच-परमेष्ठीकी भक्तिके बिना यदि कोई अपनी आराधना चाहता है, तो वह ऐसा ही है, जैसे बीजके बिना धान्यकी इच्छा करना, और बादलके बिना पानी चाहना।[3]

भगवज्जिनसेनाचार्यका कथन है कि पंचनमस्कार मन्त्रके द्वारा, जो योगिराज परमतत्त्व परमात्माका ध्यान करता है, वही ब्रह्म-तत्त्वको जान पाता है।[4] आचार्य शुभचन्द्रने ज्ञानार्णव (वि० सं० १२०७–१२२६) में लिखा है कि पंच-परमेष्ठीकी स्तुति करनेसे ही 'नित्य परमानंद' प्राप्त होता है।[5]

श्री जिनदत्तसूरि (वि० सं० ११३२–१२१०) ने उपदेशरसायन रासमें

---

१. सम्यग्दर्शनशुद्धः संसार-शरीर-भोग-निर्विण्णः।
पंचगुरु-चरण-शरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥
आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र : पं० जुगलकिशोर सम्पादित, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, अप्रैल १९५५, ७।१२, पृष्ठ १७५।

२. तेसिं आराहणणा, यगाण ण करेज्ज जो णरो भत्तिं।
धत्तिं पि संजमं तो, सालिं सो ऊसरे ववदि॥
श्री शिवार्यकोटि, भगवती आराधना : मुनि श्री अनन्तकीर्ति दि० जैनग्रन्थ—माला ८, बम्बई, वि०सं० १९८९, ५३वीं गाथा, पृष्ठ ३०३।

३. बीएण विणा सस्सं, इच्छदि सो वासमब्भएणं विणा।
आराधणमिच्छंतो, आराधणभत्तिमकरंतो॥
देखिए वही : ५४वीं गाथा, पृष्ठ ३०३।

४. पञ्चब्रह्ममयैर्मन्त्रैः सकलीकृत्य निष्कलम्।
परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्मतत्त्ववित्॥
भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी वि०सं० २००७, २१।२३६, पृष्ठ ४९९।

५. दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरं,
ये लीलाः परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम्।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन-
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः॥
आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव : श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, २९वाँ श्लोक।

लिखा है, "जो प्रतिदिन पंचपरमेष्ठियोंका स्मरण करता है, उसकी धार्मिक इच्छाओंको, शासनदेवता प्रसन्न होकर पूरा करते हैं।"[1]

७. तीर्थंकर-भक्ति

'तीर्थंकर' शब्दका अर्थ

'तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः' से स्पष्ट है कि तीर्थको करनेवाला तीर्थंकर कहलाता है।[2] यह संसाररूपी समुद्र जिस निमित्तसे तिरा जाता है, वह ही तीर्थ है[3]। धनञ्जयने द्वादशांगको तीर्थ कहा है, क्योंकि उसके सहारे भव-समुद्रको पार किया जा सकता है।[4] आचार्य श्रुतसागरने रत्न-त्रयको 'तीर्थ' माना है, क्योंकि उसके अभावमें, संसारसे छुटकारा नहीं हो सकता।[5] श्री योगीन्दुने आत्माको ही तीर्थ कहा है, उसमें स्नान किये विना, कोई भी जीव संसारके दुःखोंसे मुक्त नहीं हो सकता।[6] श्रीमच्छान्तिसूरिने लिखा है कि चतुर्विध संघ ही तीर्थ है, क्योंकि उसका आश्रय लिये बिना भवार्णवसे तिरा नहीं जा सकता।[7] तात्पर्य यह

---

१. निच्चु वि सुगुरु-देवपयभत्तह, पणपरमिट्ठि सरंतहु संतहं।
सासणसुर पसन्न ते भव्वहं, धम्मियकज्ज पसाहहि सव्वहं॥
जिनदत्तसूरि, उपदेशरसायनरास : अपभ्रंशकाव्यत्रयी, लालचन्द गान्धी सम्पादित, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, बड़ौदा, १९२७ ई०, श्लोक २५वाँ।

२. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९५४, ४।४७ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ ७८।

३. 'तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीर्थम्'
देखिए वही : ९।४७ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ७८।

४. 'तीर्थं द्वादशाङ्गशास्त्रं करोतीति तीर्थंकरः'
धनञ्जयनाममाला : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ११६वें श्लोकका भाष्य, पृष्ठ ५८-५९।

५. 'धर्मश्चारित्रं स एव तीर्थः, तं करोतीति धर्मतीर्थंकरः'
पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : ४।४८ की श्रुतसागरी टीका, पृ० १६५।

६. अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुँ अप्पा विमलु मुएवि॥
योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : ब्रह्मदेवकी टीकासहित, १।९५, पृष्ठ ९८।

७. तित्थं जिणेहि भणियं, संसारुत्तारकारणं संघो।
चाउवन्नो नियमा, कुणंति तं तेण तित्थयरा॥

है कि संसारके आवागमनसे मुक्त करानेवाला निमित्त तीर्थ है। उस निमित्तके विधाता होनेके कारण सर्वज्ञदेव तीर्थंकर कहलाते हैं।

मुनि और तीर्थंकरमें भेद

एक ही लक्ष्यको प्राप्त करते हुए भी मुनि और तीर्थंकरमें भेद होता है। तीर्थंकर मौलिक मार्गका स्रष्टा होता है, मुनि नहीं। इसी कारण तीर्थंकरके आगे धर्मचक्र चलता है।[1]

तीर्थंकर नाम-कर्मके उदयसे तीर्थंकर-पद मिलता है।[2] तीर्थंकरके पंचकल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं,[3] मुनिके किसी अवसरपर—ज्ञान और मोक्ष मिलनेपर भी—कोई उत्सव नहीं होता। तीर्थंकरकी माँ सोलह स्वप्न देखती हैं,[4] मुनिकी माँने एक भी स्वप्न देखा था, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है।

श्रीमच्छान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : श्री आत्मानन्द ग्रन्थमाला, ३०२वीं गाथा, पृ० ५५।

१. धर्मेणोपलक्षितं चक्रं धर्मचक्रम्। धर्मचक्रं विद्यते यस्य स धर्मचक्री। भगवान् पृथिवीस्थितभव्यजनसंबोधनार्थं यदा विहारं करोति तदा धर्मचक्रं स्वामिनः सेनायाः अग्रेऽग्रे निराधारं आकाशे चलति। उक्तञ्च धर्मचक्रलक्षणं श्री देवनन्दिना स्वामिना भट्टारकेण—
स्फुरदरसहस्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकरपरीतम्।
प्रहसितसहस्रकिरणद्युतिमण्डलमग्रगामि धर्मसुचक्रम्॥
देखिए, सहस्रनाम : २।२७ की श्रुतसागरी टीका, पृ० १५१।

२. यदिदं तीर्थंकरनामकर्मानन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजयकरं तस्यास्रवविधिविशेषोऽस्तीति।
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ ३३७-३३८।

३. तीर्थंकरके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष पंचकल्याणक कहलाते हैं। उन अवसरोंपर मनाये जानेवाले उत्सव 'पंचकल्याणक महोत्सव' कहलाते हैं। इन उत्सवोंमें पूजे जानेके कारण तीर्थंकर 'पंचकल्याण-पूजित' कहे जाते हैं।
पं. आशाधर, जिनसहस्रनाम : ३।३३की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ७१।
और
इसीको आचार्य पूज्यपादने 'पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं' कह कर अभिव्यक्त किया है।
देखिए दशभक्त्यादि-संग्रह : आचार्य पूज्यपाद, तीर्थंकरभक्ति : पृष्ठ १७३।

४. ऐरावत हाथी, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, दो पुष्पमालाएँ, पूर्ण चन्द्र,

तीर्थंकर समवशरणमें विराजकर १४ पूर्व और १२ अंगोंका उपदेश देता है।[1] उसकी ध्वनि, 'दिव्यध्वनि' कहलाती है।[2] मुनिको न तो समवशरणकी विभूति ही मिलती है और न दिव्यध्वनि ही। तीर्थंकरके ८ प्रातिहार्य होते हैं,[3] मुनिके एक भी नहीं। मुनि तीर्थंकरके बनाये पथपर चलकर ही लक्ष्य प्राप्त कर पाता है।

उदित होता हुआ सूर्य, स्वर्णके दो कलश, तालावमें क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ, सुन्दर तालाव, क्षुमित समुद्र, ऊँचा सिंहासन, स्वर्गका विमान, पृथ्वीको भेद कर ऊपर आया हुआ नागेन्द्र-भवन, रत्नोंकी राशि और जलती हुई धूमरहित अग्नि।
भगवज्जिनसेनाचार्य : महापुराण, प्रथम भाग, १२।१०४-११९, पृ० २५९-२६०।

१. शरीर-रश्मि-प्रसरः प्रभोस्ते, बालार्क-रश्मिच्छविराऽऽलिलेप।
नराऽमराऽऽकीर्ण-सभां प्रभा वा, शैलस्य पद्माममणेः स्वसानुम्॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : ६।३ पृ० २१।

और

श्री यतिवृषभने तिलोयपण्णत्तिमें समवशरणकी बनावट और शोभाका विशद वर्णन किया है।
देखिए तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, ७१६-८८७ पृ० २३२-२६१।

२. दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः॥
श्रीमानतुङ्गाचार्य, भक्तामरस्तोत्र : काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, ३५वाँ श्लोक, पृ० ७।

और

दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्।
भव्यमनोगतमोहतमोहनन् अद्युतदेप यथैव तमोऽरिः॥
भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : प्रथम भाग, २३।६९, पृ० ५४९।

३. दिव्यछत्र, अशोकवृक्ष, दिव्यध्वनि, सिंहासन, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, ६४ चमर और भामण्डल, ये आठ प्रातिहार्य होते हैं।
देखिए दशभक्त्यादिसंग्रह : आचार्य पूज्यपाद, निर्वाणभक्ति : १४वाँ श्लोक, पृ० १९२।

और

श्रीयतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, ४।९१९-९२७, पृ० २६५।

तीर्थंकरके पर्यायवाची नाम

धनञ्जयनाममालामें सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, केवली, धर्मचक्रभृत्, तीर्थकृत् और दिव्यवाक्पति, तीर्थंकरके पर्यायवाची नाम दिये हुए हैं।[1] 'चेइयवंदण महाभास'में, तीर्थंकरके अनेक पर्यायवाचियोंका नामोल्लेख हुआ है, जिनमें स्वयंसंबुद्ध, पुरुषोत्तम, लोकनाथ, धर्मनायक और सर्वज्ञ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।[2]

तीर्थंकरोंकी संख्या

भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीन कालोंमें-से प्रत्येकमें २४ तीर्थंकर होते हैं। जम्बूद्वीपके-भरतक्षेत्रको चतुर्विंशतिकाओंका पूरा विवरण श्री यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्तिमें लिखा हुआ है। भारतकी वर्त्तमान कालकी चौबीसीके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम महावीर कहे जाते हैं।[3] महावीर बुद्धके समकालीन थे।[4] उनसे २५० वर्ष पूर्व तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए थे।[5] अनेक आधारों-

---

१. सर्वं जानाति वेत्तीति सर्वज्ञः। विशिष्टा ई तां प्रति इतः प्राप्तो रागो यस्य स वीतरागः। अरिहननाद्रजोहननभावाच्च परिप्राप्तानन्तचतुष्टय-स्वरूपः सन् इन्द्रनिर्मितामतिशयवतीं पूजामर्हतीति अर्हन्। त्रिकालं केवलज्ञानमस्त्यस्य केवली। जिनधर्मचक्रं सहस्रारयुक्तं तीर्थकृदग्रे निराधारतया विहारकाले गगने गच्छत् सर्वजीवदयासूचकं रत्नमयमायुधविशेषं बिभर्त्ति तद्वाऽनुभवतीति धर्मचक्रभृत्। तीर्थं करोतीति तीर्थकृत्। दिव्यवाचाम्पतिः दिव्यवाक्पतिः।

धनञ्जयनाममाला : ११६वें श्लोकका भाष्य, पृ० ५८–५९।

२. श्रीमच्छान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : गाथा ३०३-३५१, पृ० ५५–६३।

३. ऋषभनाथ, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ, पद्मनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान (महावीर)।

श्रीयतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : द्वितीय भाग, पृ० १०१३।

४. Thus it is established that Mahavira was a contemporary of Buddha, and probably some what older than the latter who outlived his rival's decease at Pava.

Dr. Hermann Jacobi, Studies in Jainism, Ahmedabad, p. 4.

५. Jacobi, S. B. E. Vol. XLV, P. 122. or

पर उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मान लिया गया है।[1] हो सकता है कि होनेवाली खोजोंमें, अवशिष्ट तीर्थंकरोंकी ऐतिहासिकता भी प्रमाणित हो जाये।

भविष्यमें होनेवाले २४ तीर्थंकरोंका नाम, माँ-बापका परिचय और जन्म-स्थान, प्राचीन आगम-ग्रन्थोंमें दिया हुआ है। समवायांग सूत्रमें लिखा है कि मगधके सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) पहले नरकसे निकलकर प्रथम तीर्थंकर होंगे। महावीरकी परमभक्त सुलसा नामकी स्त्री सोलहवें तीर्थंकर और कृष्ण इक्कीसवें तीर्थंकरका पद प्राप्त करेंगे।[2] होनेवाले तीर्थंकरोंकी भक्तिमें, अनेक स्तुति-स्तोत्रोंका निर्माण हुआ है।

भरतक्षेत्रके अतिरिक्त अन्य महाविदेहोंमें भी चौबीस तीर्थंकर जन्म लेते हैं। पूर्व महाविदेहमें, अभी 'सीमन्धर स्वामी' नामके तीर्थंकुर मौजूद हैं। आचार्य कुन्दकुन्द उन्हींके पास अपनी शंका-समाधान करने गये थे।[3] भरतक्षेत्रमें होनेवाली चौबीसीके सातवें तीर्थंकर तक उनका समय चलेगा।[4] जैन-साहित्यमें

Cambridge History of India, Vol I. E. J. Rapson Edited, S. Chand and Co, Delhi, 1955, p. 137.

or

Dr. Jagdish Chandra, Life in Ancient India, as depicted in the Jain Canons, Bombay, 1947, p. 19.

१. आचाराङ्ग सूत्र : (II. 3, 401 p. 389) में लिखा है कि महावीरके माता-पिता और शायद सब ज्ञातृक्षत्रिय, पार्श्वनाथके अनुयायी थे। कल्पसूत्र (115 F.) में लिखा है कि श्रमण होनेके बाद महावीर जिस चैत्यमें ठहरे, वह पार्श्वचैत्य था।

Dr. Hermann Jacobi, Studies in Jainism, Ahmedabad, p. 5, n. 8.

२. Samav, Sutra 159, St 77 Ft, Ancient Jaina Hymns, Charlottee Krause Edited, Scindia Oriental Institute, Ujjain, 1952, Introduction, p. 15-16.

३. जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥
श्रीदेवसेनाचार्य, दर्शनसार : (माघ सुदी दशमी, वि० सं० ९९०), पं० नाथूराम प्रेमी सम्पादित, बम्बई, १९२०, ४३वीं गाथा।

४. रत्नसमुच्चय ग्रन्थ : सेठ माणिकचन्द पीताम्बरदास प्रकाशित, हुबली, वि० सं० १९८५, ५१७वाँ पद्य, पृ० २०२।

अनेकों स्तुति-स्तोत्र ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध सीमन्धर स्वामीकी भक्तिसे है।[1]

तीर्थंकर-भक्ति

आचार्य कुन्दकुन्दने भावपाहुडमें लिखा है कि सोलह कारणभावनाओंका ध्यान करनेसे अल्पकालमें ही तीर्थंकर नाम-कर्मका बन्ध होता है।[2] उन भावनाओंमें एक 'अर्हद्भक्ति' भी है। इसका तात्पर्य है कि अर्हन्त (तीर्थंकर) की भक्ति करनेवाला तीर्थंकर बन जाता है। आचार्य उमास्वातिने भी तीर्थंकरत्व नाम-कर्मके कारणोंमें अर्हद्भक्तिको भी गिना है।[3] तीर्थंकर जैन-भक्तिके प्रमुख विषय थे और हैं। उनके अभावमें उनकी मूर्त्तियाँ पूजी जाती हैं।

लघुता

भगवान्की महत्ता और अपनी लघुता दिखाना भक्तका मुख्य गुण है। आचार्य समन्तभद्र (दूसरी शताब्दी विक्रम) ने स्वयम्भू-स्तोत्रमें लिखा है, "हे भगवन् ! 'आप ऐसे हैं, वैसे हैं', ऐसा मुझ अल्पमतिका यह स्तुतिरूप प्रलाप है। यह आपके अशेष-माहात्म्यको न जानते हुए भी, आपके गुणोंका संस्पर्श करने मात्रसे ही, अमृत-समुद्रके स्पर्शकी भाँति कल्याणकारक है।"[4] श्रीमान-

---

१. मेरुनन्दनोपाध्याय (वि० सं० १३७५–१४३०) का सीमन्धरस्वामिस्तवन (अप०) और विनयप्रभसूरि (वि० सं० १३९४–१४१२) का सीमन्धरस्वामिस्तवन बहुत प्रसिद्ध हैं। दोनों ही क्रमशः जैनस्तोत्रसंदोह प्रथम भाग (पृ० ३४०) में और एन्शियण्ट जैन हिम्स (पृ०१२०) में छप चुके हैं।

२. विसय विरत्तो समणो छद्द सवर कारणाइ भाऊण।
तिरथयरणामकम्मं बंधइ असरेण कालेन॥

आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : श्रीपाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, मारवाड़, भावपाहुड : ७९वीं गाथा।

३. दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधि-वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य।
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : मथुरा, ६।२४, पृ० १५३।

४. त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलाप-लेशोऽल्प-मतेर्महामुने !
अशेष-माहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : १४।५, पृ० ५०।

तुंगाचार्य ने भी कहा है, "हे भगवन्! मैं अल्पश्रुत हूँ और विद्वानोंका परिहासधाम हूँ, फिर भी आपकी भक्तिके कारण ही आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। यह वैसा ही है जैसे वसन्त ऋतुमें कोकिल, आम्रकलिकाके कारण ही मधुर शब्दका उच्चारण करती है।"[1]

शरण

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने, तीर्थंकर पार्श्वनाथको 'निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्यं' कहा है।[2] भगवान् उन दीनोंके आश्रय हैं, जिनका कोई भाई-बन्धु नहीं। श्रीअमितगति भी उस आप्तदेवकी शरणमें गये हैं, जिसके दर्शन होनेपर समूचा विश्व स्पष्ट दिखायी दे उठता है।[3]

गुण-कीर्त्तन

भक्तको आराध्यमें अनन्त गुण दिखायी देते हैं। वह उनको पूरा कह भी नहीं पाता, फिर अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुति कैसे की जा सकती है।[4] श्रीअकलंकदेव ने उन महादेवकी वन्दना की है, जो पूरे संसारको हाथकी रेखाओंकी भाँति

---

१. अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतु॥
श्रीमानतुङ्गाचार्य, भक्तामरस्तोत्र : काव्यमाला, ६ठा श्लोक, पृष्ठ ३।

२. निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्यमासाद्य सादितरिपुप्रथितावदानम्।
त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो वन्ध्योऽस्मि चेद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि॥
आचार्य सिद्धसेन, कल्याणमन्दिरस्तोत्र : काव्यमाला बम्बई, १९२६, ४०वाँ श्लोक, पृ० १७।

३. विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥
श्रीअमितगतिसूरि, सामायिक पाठ : ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद सम्पादित, धर्मपुरा, देहली, वि० सं० १९७७, २०वाँ पद्य, पृ० १८।

४. गुण-स्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्॥

आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १८११, पृ० ६१।

देखते हैं, और जिन्हें जन्म-जरा-मृत्युरूप दोष स्पर्श भी नहीं कर पाता।[1]

दास्य भाव

तीर्थंकरकी भक्तिमें तत्पर होते हुए आचार्य सोमदेवने लिखा है, "हे भगवन्! आपके प्रसादसे मुझे, मानवीय और दैवीय वैभव प्राप्त हुए हैं। अब मेरा हृदय आपकी सेवाके लिए उत्सुक है, उसे इसका अवसर देकर सनाथ बनाइए।"[2]

नाम-कीर्तन

आचार्य सिद्धसेनने कल्याणमन्दिरस्तोत्रमें कहा है, "हे देव! आपके स्तवन की तो अचिन्त्य महिमा है ही, किन्तु आपका नाम लेने मात्रसे ही यह जीव संसारके दुखोंसे बच जाता है। जैसे घामसे प्रपीड़ित मनुष्यको कमल-युक्त सरोवर ही नहीं, अपितु उसकी शीतल हवा भी सुख पहुँचाती है।[3]

---

१. त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि।
रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभादयो–
नालं यत्पदलङ्घनाय स महादेवो मया वन्द्यते॥
आचार्य अकलंकदेव, अकलंक स्तोत्र : हिन्दी टीका सहित, मुंशी नाथूराम प्रकाशित, कटनी-मुड़वारा (जबलपुर), वि० सं० १९६३, पहला श्लोक, पृ० १।

२. मनुजदिविजलक्ष्मीलोचनालोकलीला
श्चिरमिहचरितार्थास्त्वत्प्रसादात् प्रजाताः।
हृदयमिदमिदानीं स्वामिसेवोत्सुकत्वात्
सहवसतिसनाथं छात्रमित्रे विधेहि॥
K. K. Handiqui, Yasastilaka and Indian Culture, Jaina Samskriti Samrakshaka Sangha, Sholapur, 1949, p. 313.

३. आस्तामचिन्त्य महिमा जिनसंस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोहतपान्थजनान्निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥
आचार्य सिद्धसेन, कल्याणमन्दिर स्तोत्र : काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, ७वाँ श्लोक, पृ० ११।

दर्शन-मात्र

भूपाल कविने 'जिनचतुर्विंशतिका' में लिखा है, "हे भगवन्! जिन्होंने आपके दर्शन किये हैं, उन्हींके नेत्र सफल हैं, और वे ही नेत्रवान् कहलाते हैं!"[1] भगवान्को निरन्तर देखनेपर भी, इन्द्र जब अतृप्त रहा, तब उसने सहस्र-नेत्र कर लिये।[2]

पाप-विनाशक

वादिराजसूरि (११वीं शताब्दी विक्रम) ने एकीभावस्तोत्रमें कहा है, "हे भगवन्! आपके चरण-कमलोंकी संगतिको प्राप्त हुई भक्ति-गंगामें जो स्नान कर लेता है, उसके चित्तके समूचे पाप धुल जाते हैं।"[3]

अन्यसे महत्ता

भक्तामरस्तोत्रमें लिखा है, "हे विभो! निर्मल ज्ञान जैसा आपमें शोभा देता है, वैसा ब्रह्मा, विष्णु, महादेवमें नहीं। महामणिमें जो चमक होती है, वह कांच-

---

१. चक्षुष्मानहमेव देव भुवने नेत्रामृतस्यन्दिनं
त्वद्वक्त्रेन्दुमतिप्रसादसुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम्।
येनालोकयता मयाऽनतिचिराच्चक्षुः कृतार्थीकृतं
द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम्॥
श्रीभूपालकवि, जिनचतुर्विंशतिका : पंचस्तोत्रसंग्रह : दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वी० नि० सं० २४६६, ११वाँ श्लोक, पृ० १३०।

२. तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहु-विस्मयः॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र : वीरसेवामन्दिर, सरसावा, १९५१, १८।४, पृ० ६२।

३. प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धे-
र्या देव! त्वत्पदकमलयोः संगता भक्तिगङ्गा।
चेतस्तस्यां मम रुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः
कल्माषं यद्भवति किमियं देव संदेहभूमिः॥
वादिराजसूरि, एकीभावस्तोत्र, पंचस्तोत्रसंग्रह : सूरत, वी० नि० सं० २४६६, १६वाँ श्लोक, पृ० ८०।

के टुकड़ेमें नहीं।"[1]

श्रीजिनसमुद्रसूरिने भी पार्श्वनाथ स्तवनमें कहा है, "हे भगवन्! आपके चरणोंकी सेवाका रसिक मेरा मन, अन्यत्र हरादिकमें सन्तोष नहीं प्राप्त कर पाता। कोकिल आम्र-मंजरीको छोड़कर कर्णिकारमें आनन्दका अनुभव नहीं करती।"[2]

अंगोंकी सार्थकता

यशोविजयने पार्श्वनाथस्तोत्रमें लिखा है, "हे भगवन्! नेत्र वे ही हैं, जो आपकी मूर्तिका अवलोकन करते हैं, मानस वह ही है, जो आपका ध्यान करता है। वाणी वह ही है, जो आपकी स्तुतिमें तत्पर है, और सिर वह ही है, जो आपके चरणोंमें झुका रहता है।"[3] श्रीआनन्दमाणिक्य[4] और श्री

---

१. ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि॥
श्रीमानतुङ्गाचार्य, भक्तामरस्तोत्र : काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, २०वाँ श्लोक, पृ० ५।

२. त्वत्पादसेवारसिकं मनो मे नाऽन्यत्र तोषं लभते हरादौ।
विहाय वा मञ्जरिमाम्रजां किं कोकिलः क्रीडति कर्णिकारे॥
श्री जिनसमुद्रसूरि, पार्श्वनाथस्तवनम् : जैनस्तोत्रसंदोह : दूसरा भाग, मुनि चतुरविजय सम्पादित, साराभाई मणिलाल नवाब प्रकाशित, अहमदाबाद, वि० सं० १९९२, १४वाँ श्लोक, पृ० १७८।

३. लोचने लोचने होते ये त्वन्मूर्तिविलोकिनी।
यद् ध्यायति त्वां सततं मानसं मानसं च तत्॥
सती वाणी च सा वाणी या त्वत्स्तुतिविधायिनी।
येन प्रणम्रौ त्वत्पादौ मौलिर्मौलिः स एव हि॥
यशोविजय, पार्श्वनाथस्तोत्र : ५-६ श्लोक, जैनस्तोत्रसन्दोह : भाग १, चतुरविजयमुनि सम्पादित, अहमदाबाद, वि० सं० १९८९, पृ० ३९३।

४. वाणी सैव मनोहरा ननु यया त्वं गीयसे नित्यशः,
श्लाघ्या दृष्टिरियं यया च नितरां त्वं दृश्यसेऽहर्निशम्।
हस्तः शस्ततरः स एव फलदो यः पूजयेत् त्वां जिनम्,
ध्यानं धन्यतमं तदेव सुखदं यस्मिन् प्रभो! त्वं भवेः॥
आनन्दमाणिक्य, पार्श्वजिनस्तवनम् : १६वाँ श्लोक, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, पृ० १८५।

धर्मसूरिने[1] भी ऐसे ही भावोंको प्रकट किया है।

८. शान्ति-भक्ति

शान्तिका तात्पर्यार्थ

शान्तिका अर्थ है निराकुलता। आकुलता रागसे उत्पन्न होती है। रत होना राग है। इसीको आसक्ति कहते हैं। आसक्ति ही अशान्तिका मूल कारण है। सांसारिक द्रव्योंका अर्जन और उपभोग बुरा नहीं, किन्तु उनमें आसक्त होना ही दुःखदायी है। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि जैसे अरतिभावसे पी गयी मदिरा नशा उत्पन्न नहीं करती, वैसे ही अनासक्त भावसे द्रव्योंका उपभोग; कर्मोंका बन्ध नहीं करता[2]। कर्मोंका बन्ध अशान्ति ही है।

शान्ति दो प्रकारकी होती है—क्षणिक और शाश्वत। पहली सांसारिक रोगादिके उपशमसे और दूसरी अष्ट कर्मोंके विनाशसे उत्पन्न होती है। मोक्ष प्राप्त करना ही शाश्वत शान्ति है।

शान्ति-भक्तिकी परिभाषा

शान्तिके लिए की गयी भक्ति शान्ति-भक्ति कहलाती है। भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिसे क्षणिक और शाश्वत दोनों ही प्रकारकी शान्ति मिलती है। जिनेन्द्रने शाश्वत शान्ति प्राप्त कर ली है। वे शान्तिके प्रतीक माने जाते हैं।

वैसे तो २४ तीर्थङ्कर शान्ति प्रदान करते हैं, किन्तु उनमें भी १६वें तीर्थ-ङ्कर शान्तिनाथको विशिष्ट रूपसे शान्ति-प्रदायक माना जाता है। शान्तिनाथको लक्ष्य कर जितने भी स्तुति-स्तोत्र बने हैं, सभीमें शान्तिकी बात है। आचार्य-

---

१. ये मूर्ति तव पश्यतः शुभमयीं ते लोचने लोचने,
या ते वक्ति गुणावलीं निरुपमां सा भारती भारती।
या ते न्यञ्चति पादयोर्वरदयोः सा कन्धरा कन्धरा,
यत्ते ध्यायति नाथ! वृत्तमनघं तन्मानसं मानसम्॥
श्रीधर्मसूरि, श्रीपार्श्वजिनस्तवनम् : तीसरा श्लोक, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग १, अहमदाबाद, पृ० २०३।

२. जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव॥
आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार : गाथा १९६।

पूज्यपादका शान्त्यष्टक, उन्हींको सम्बोधित करके लिखा गया है।[1] अनेक शान्ति-चक्र-पूजाओं और शान्तिपाठोंका भी उन्हींसे सम्बन्ध है।[2] इस भाँति सिद्ध है कि शान्ति-भक्तिमें भगवान् शान्तिनाथकी भक्ति ही निरूपित है।

शान्ति-भक्ति

आचार्य पूज्यपादने शान्ति-भक्तिमें लिखा है कि जिनेन्द्रके चरणोंकी स्तुति करनेसे समस्त विघ्न और शारीरिक रोग उपशम हो जाते हैं। जैसे कि मन्त्रोंके पाठसे सर्पका दुर्जय विष शान्त हो जाता है।[3]

भगवान्के चरणोंके गीत गानेसे समस्त आमय इस प्रकार दूर हो जाते हैं, जैसे सिंहकी गर्जनासे हाथी भाग जाते हैं।[4] श्री वादिराज सूरिका कोढ़ एकीभाव-स्तोत्रके उच्चारणसे शान्त हो गया था।[5]

---

१. देखिए, दश-भक्ति : शोलापुर, सन् १९२१ ई०, पृष्ठ ३४२–३४७।

२. देखिए, पं० आशाधरकी शान्तिचक्रपूजा : (प्रतिष्ठासारोद्धारमें संकलित) धर्मदेवकी शान्तिपाठपूजा और भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिकी शान्तिचक्रपूजा (आमेर शास्त्रभण्डार जयपुरकी ग्रन्थसूची, पृ० १५१), शान्तिक-समस्तविधि और शान्तिधारापाठ (राजस्थानके जैनशास्त्र भण्डारोंकी ग्रन्थसूची : भाग २, पृ० ६७), पं० सूरिचन्द्रकी शान्तिलहरी (आमेर शास्त्र भण्डार जयपुरकी ग्रन्थ सूची, पृ० १५२)।

३. क्रुद्धाशीविषदष्टदुर्जयविषज्वालावलीविक्रमो,
विद्याभेषजमन्त्रतोयहवनैर्याति प्रशान्तिं यथा।
तद्वत्ते चरणाम्बुजयुगस्तोत्रोन्मुखानां नृणाम्,
विघ्नाः कायविनायकाश्च सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मयः॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत शान्तिभक्ति : दशभक्ति : शोलापुर, १९२१ ई०, श्लोक २, पृ० ३३५।

४. त्वत्पादद्वयपूतगीतरवतः शीघ्रं द्रवन्त्यामयाः
दर्पाध्मातमृगेन्द्रभीमनिनदाद्वन्या यथा कुञ्जराः॥
देखिए वही : श्लो० ५, पृ० ३३९।

५. प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्या-
त्पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिन! वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि॥
वादिराजसूरि, एकीभावस्तोत्र : काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, श्लो० ४, पृ० १८।

जिनेन्द्रके चरणोंकी वन्दनासे बाधारहित, अचिन्त्य-माहात्म्य, अतुल, उपमा-रहित और नित्य सुख भी प्राप्त होता है।[1] जैसे ग्रीष्मके प्रखर सूर्यसे संतप्त हुए जीवको जल और छायामें शान्ति मिलती है, वैसे ही संसारके दुःखोंसे बेचैन प्राणी, भगवान्‌के चरण-कमलोंमें शान्ति पाता है।[2]

तीर्थंकर शान्तिनाथकी भक्ति

शान्त्यष्टकका प्रारम्भ करते हुए आचार्य पूज्यपादने लिखा है, "हे शान्ति जिनेन्द्र ! अनेक शान्त्यर्थी जीव, आपके पाद-पद्मोंका आश्रय लेकर तर गये हैं, उन्होंने शाश्वत मोक्षरूप शान्ति प्राप्त कर ली है। मुझपर भी कृपा-दृष्टि कीजिए, मैं भक्तिपूर्वक शान्त्यष्टकका पाठ कर रहा हूँ[3]।"

मुनि शोभन (१०वीं शताब्दी ईसवी) ने लिखा है कि शान्ति जिनेन्द्रके प्रवचनोंको सुनने मात्रसे यह जीव, शाश्वत शान्ति प्राप्त कर लेता है।[4] आचार्य

---

१ अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं
सौख्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलस्तुत्यैव संप्राप्यते ॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत शान्तिभक्ति : दशभक्ति : शोलापुर, सन् १९२१ ई०, श्लो० ६, पृ० १७७।

२. न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्पादद्वयं ते प्रजाः
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः।
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत शान्तिभक्ति : दशभक्त्यादिसंग्रह : श्लो० १, पृष्ठ १७४।

३. शान्ति शान्तिजिनेन्द्र शान्तमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात्
संप्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शान्त्यर्थिनः प्राणिनः।
कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः शान्त्यष्टकं भक्तितः ॥
देखिए वही : श्लो० ८, पृ० १७९।

४. शान्तिं वस्तनुतान्मिथोऽनुगमनाद्यन्नैगमाद्यैर्नयै-
रक्षोभं जन ! हेऽतुलां छितमदोदीर्णाङ्गजालं कृतम्।
तत्पूज्यैर्जगतां जिनैः प्रवचनं दृप्यत्कुवाद्यावली
रक्षोभञ्जनहेतुलाञ्छितमदो दीर्णाङ्गजालङ्कृतम् ॥
मुनि शोभन, स्तुतिचतुर्विंशतिका, हीरालाल रसिकदास कापडिया सम्पादित, श्रीआगमोदय समिति ग्रन्थोद्धार, ग्रन्थाङ्क ५१, बम्बई, १९२७ ई०, श्लो० ३, पृ० १२।

सोमदेवने भी लिखा है, "शान्ति करनेवाले भगवान् शान्तिनाथ, भव-दुःखरूपी अग्निपर धर्मामृतकी वर्षा करनेवाली और शिव-सुख देनेवाली, शान्ति मुझे प्रदान करें[1]।" कवि कुलप्रभका कथन है, "हे जगद्भास्कर ! संसाररूपी कमलमें बँधे जीवरूपी भ्रमर आप जैसे सूर्यके उदय होते ही बन्धनसे छूट जायेंगे, तभी उनको स्थायी शान्ति मिल सकेगी[2]।"

ग्रन्थोंके अन्तिम मंगलाचरणोंमें प्रायः अपने लिए, संघके लिए और देशके लिए भगवान् शान्तिनाथसे शान्तिकी याचनाएँ की गयी हैं। आचार्य पूज्यपादने संघ, आचार्य, साधु, धार्मिक जनों और राष्ट्रके लिए शान्तिकी याचना की है[3]। पण्डित श्री मेधावी (वि० सं० १५४१) के धर्मसंग्रह श्रावकाचारका अन्तिम मंगलाचरण भी ऐसा ही है।[4]

शान्ति-यन्त्रकी पूजा

सागरचन्द सूरि (१५वीं शताब्दी) के मन्त्राधिराज-कल्पमें शान्ति-यन्त्रकी पूजा दी हुई है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है; "शान्ति-यन्त्रकी पूजा-अर्चासे

---

१. भवदुःखानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः।
शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्ताज्जिन. शान्तिः॥
K. K. Handiqui, Yasastilaka and Indian Culture : Sholapur, 1949, p. 311.

२. सौरभ्यभ्रमतो भ्रमद्भ्रमरवल्लीनो भवाम्भोरुहे
बद्धस्तत्र दलैर्विमोचय ततः शान्ते ! जगद्भास्कर ! ॥
कवि कुलप्रभ, चतुर्विंशतिजिनस्तव : जैनस्तोत्रसमुच्चय : चतुरविजय मुनि सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२८, श्लो० १७, पृ० ११९।

३. संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत शान्तिभक्ति : दशभक्त्यादिसंग्रह : श्लो० १४, पृष्ठ १८१।

४. शान्तिः स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणां सदा
शान्तिः सुप्रजशान्तयोभरभृतां शान्तिर्मुनीनां सदा।
श्रोतॄणां कविताकृतां प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुनः
शान्तिः शान्तिरथाग्निजीवनसुचः श्रीसज्जनस्यापि च॥
पण्डित श्री मेधावी, धर्मसंग्रहश्रावकाचार : प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, अगस्त १९५०, प्रशस्ति अन्तिम पाठ, श्लो० ३५, पृ० २५।

रोग, पाप और व्याधियाँ उपशम हो जाती हैं और सौभाग्यका उदय होता है[1]।

९. समाधि-भक्ति

'समाधि' शब्दकी व्युत्पत्ति

समाधीयते इति समाधिः। समाधीयतेका अर्थ है, "सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।"[2] अर्थात् विक्षेपोंको छोड़कर मन जहाँ एकाग्र होता है; वह समाधि कहलाती है। विशुद्धिमग्गमें समाधानको ही समाधि माना है, और समाधानका अर्थ किया है, "एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं[3]" अर्थात् एक आलम्बनमें चित्त और चित्तकी वृत्तियोंका समान और सम्यक् आधान करना ही समाधान है। जैनोंके अनेकार्थनिघण्टुमें भी 'चेतसश्च समाधानं समाधिरिति गद्यते',[4] कहकर चित्तके समाधानको ही समाधि कहा है। 'सम्यक् आधीयते' और 'सम्यक् आधानं' में प्रयोगकी भिन्नताके अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही धातुसे बने हैं; और दोनोंका एक ही अर्थ है। चित्तका एक आलम्बन अथवा ध्येयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित होना दोनों ही व्युत्पत्तियोंमें अभीष्ट है।

समाधिके भेद

समाधि दो प्रकारकी होती है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। 'सविकल्पक' में मनको पंचपरमेष्ठी, अरहंत और ओंकारादि मंत्रपर टिकाना होता है।[5] 'निर्विकल्पक' में 'रूपातीत' अर्थात् सिद्ध अथवा शुद्ध आत्मापर केन्द्रित करना पड़ता है।[6]

---

१. शमयति दुरितश्रेणिं दमयत्यरिसन्ततिं सततमसौ।
पुष्णाति भाग्यनिचयं मुष्णाति व्याधिसम्बाधाम्॥
श्रीसागरचन्द्रसूरि, मन्त्राधिराजकल्प : श्री जैनस्तोत्रसंदोह : भाग २, अहमदाबाद, सन् १९३६, श्लो० ३३, पृ० २७७।

२. तुलना—पातञ्जलि योगसूत्र : व्यासभाष्य, मेजर बी० डी० वसु सम्पादित, इलाहाबाद, १९२४ ई०, १।३२ का व्यासभाष्य।

३. आचार्य बुद्ध घोष, विसुद्धिमग्ग : कौसाम्बीजीकी दीपिकाके साथ, बनारस, ततियो परिच्छेदो, पृष्ठ ५७।

४. देखिए, धनञ्जयनाममाला सभाष्य : श्लो० १२४, पृष्ठ १०५।

५. योगीन्दु, परमात्मप्रकाश : १६२वें दोहेका हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३०६।

६. तच्च ध्यानं वस्तुवृत्त्या शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रया-

अतः सविकल्पक समाधि सालम्ब और निर्विकल्पक निरवलम्ब होती है। सविकल्पक समाधिमें ज्ञानी जन, विषयकषायादिके खोटे ध्यानसे चित्तको हटाने और मोक्ष-मार्गमें लगानेके लिए यह भावना भाते हैं, "चतुर्गतिके दुःखोंका क्षय हो, अष्टकर्मोंका नाश हो, ज्ञानका लाभ हो, पञ्चम गतिमें गमन हो, समाधि-मरण हो और जिनराजके गुणोंकी सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो[1]।"

निर्विकल्पक समाधि वह है, जिसमें समस्त विकल्प विलीन हो जाते हैं। इसमें अशुभके साथ-साथ शुभका भी त्याग करना होता है। आचार्य योगीन्दुका कथन है कि जबतक शुभाशुभ परिणाम दूर नहीं होंगे, शुद्धोपयोगरूप परमसमाधि प्रकट नहीं हो सकती[2]। आचार्य कुन्दकुन्दने भी लिखा है, "जो रागादिक अन्तरङ्ग परिग्रह करि सहित हैं और जिन-भावनारहित द्रव्यलिंगको धारकर निर्ग्रन्थ बनते हैं, वे इस निर्मल जिन-शासनमें समाधि और बोधि नहीं पाते।[3]"

समाधि-भक्तिकी परिभाषा

समाधि धारण कर मोक्ष पानेवालोंसे, समाधिमरणकी याचना करना समाधि भक्ति कही जाती है। समाधिपूर्वक प्राणोंका विसर्जन करना समाधि-मरण है। आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि तपका फल अन्त-क्रियाके आधारपर अवलम्बित है, अतः यथा-सामर्थ्य समाधिमरणमें प्रयत्नशील होना चाहिए।[4] अन्त समयमें

त्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावसुखरसास्वाद-रूपमिति ज्ञातव्यम्।

देखिए वही : पहले दोहेकी ब्रह्मदेवकृत संस्कृत व्याख्या : पृष्ठ ६।

१. अत्र यद्यपि सविकल्पावस्थायां विषयकषायाद्यपध्यानवञ्चनार्थं मोक्षमार्गे भावनादृढीकरणार्थं च "दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ती होउ मज्झं" इत्यादि भावना कर्त्तव्या तथापि वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिकाले न कर्त्तव्येति भावार्थः।

देखिए वही : १८८वें दोहेकी ब्रह्मदेवकृत संस्कृत व्याख्या : पृ० ३२८।

२. जासु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुट्टंति।
परम-समाहि ण तासु मणि केवुलि एमु भणंति॥
देखिए वही : २।१९४, पृ० ३३२।

३. आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड : मारौठ, भावपाहुड : गाथा ७२।

४. अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥
आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र : वीरसेवामन्दिर, सरसावा, १९५५, ६।२, पृष्ठ १६३।

मनको पञ्चपरमेष्ठी, णमोकारमन्त्र और शुद्ध आत्मामें केन्द्रित करना आसान नहीं है। यह तभी हो सकता है जब समाधिष्ठोंकी कृपा उपलब्ध हो। वह कृपा दो उपायोंसे मिलती है—एक तो स्तुति-स्तोत्रोंके द्वारा और दूसरे समाधि-स्थलोंके प्रति आदर-सम्मान दिखानेसे। यह ही समाधि-भक्ति है।

समाधिमरणकी याचना

आचार्य कुन्दकुन्दने अपनी प्राकृत-भक्तियोंके अन्तमें, 'दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं'के द्वारा समाधि-मरणकी याचना की है।[1] उन्होंने अनगारोंसे तो अपने पूरे संघके लिए ही समाधि-का वरदान माँगा है।[2]

आचार्य पूज्यपादने भगवान् जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना की है, "हे जिनेन्द्रदेव! बचपनसे आज तक, मेरा समय आपके चरणोंकी सेवा और विनयमें ही व्यतीत हुआ है। उसके उपलक्ष्यमें यह ही वर चाहता हूँ कि आज, जब कि हमारे प्राणोंके प्रयाणका क्षण उपस्थित हुआ है, मेरा कण्ठ आपके नामकी स्तुतिके उच्चारणमें अकुण्ठित न हो।[3]" आचार्यका निवेदन है, "हे जिनेन्द्र! जबतक मैं निर्वाण प्राप्त करूँ, तबतक आपके चरण-युगल मेरे हृदयमें, और मेरा हृदय आपके दोनों चरणोंमें लीन बना रहे।"[4]

---

१. देखिए, दशभक्ति : शोलापुर, सन् १९२१ ई०, आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत भक्तियाँ, अन्त भाग।

२. एवं मयेभित्थुया अणयारा रायदोसपरिसुद्धा।
संघस्स वरसमाहिं मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु॥
वही : प्राकृत योगिभक्ति : गाथा २३, पृ० १८९।

३. आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः श्रीपादयोः सेवया,
सेवासक्तविनेयकल्पलतया कालोऽद्य यावद्गतः।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे,
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम॥
दशभक्त्यादिसंग्रह : आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत समाधिभक्ति, छठा श्लोक, पृष्ठ १८५।

४. तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः॥
देखिए वही : ७वाँ श्लोक, पृष्ठ १८५।

शिवार्यकोटिने भगवती आराधनाके अन्तमें लिखा है, "भक्तिसे वर्णन की गयी यह भगवती आराधना, संघको तथा मुझको उत्तम समाधिका वर प्रदान करे।"[1] महाकवि पुष्पदन्तने 'णायकुमारचरिउ'में लिखा है कि श्री पृथ्वीदेवी, बड़ी रानीके कुव्यवहारसे वन-विहारके लिए न जाकर जिन-मन्दिरमें चली गयी। वहाँ उसने भगवान् जिनेन्द्रसे प्रार्थना की, "हे मोक्षगामी भगवन्! तुम मेरे स्वामी हो। मुझे बोधि और विशुद्ध समाधि दीजिए।"[2]

समाधिस्थलोंका सम्मान

समाधिमरणपूर्वक मरनेवाले साधुके अन्तिम संस्कार-स्थलको 'नशियांजी' कहते हैं। प्राकृत 'णिसोहिया' का अपभ्रंश 'निसीहिया' हुआ और वह कालान्तरमें नसिया होकर आजकल 'नशियां' के रूपमें व्यवहृत होने लगा है। भगवती-आराधनाकी मूलाराधना टीकामें लिखा है, "जिस स्थानपर समाधिमरण करनेवाले क्षपकके शरीरका विसर्जन या अन्तिम संस्कार किया जाता है, उसे निषीधिका कहते हैं।[3]" 'निसीदिया' का सबसे पुराना उल्लेख सम्राट् खारवेलके 'हाथीगुम्फ' वाले शिलालेखमें हुआ है[4]।

भद्रबाहु स्वामी (वीरनिर्वाण संवत् १७०) का समाधिस्थल कटवप्रपर[5], श्री स्थूलभद्र (वीरनिर्वाण सं० २१९) का गुलजारबाग़ (पटना) स्टेशनके

१. आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती।
संघस्स सिवज्जस्स य समाहिवरमुत्तमं देउ॥
श्री शिवार्यकोटि, भगवती आराधना : वि. सं. १९८९, गाथा २१६८।

२. इसी मोक्खगामी, तुमं मज्झ सामी।
फुड देहि बोही, विसुद्धा समाही॥
कवि पुष्फयंत, णायकुमारचरिउ : कारंजा (बरार), १९३३ई०, ३।२०, पृ० १६।

३. यथा—निषीधिका-आराधक-शरीर-स्थापनास्थानम्।
श्री शिवार्यकोटि, भगवती आराधना : गाथा १९६७ की मूलाराधना टीका।

४. कुमारीपवते अर्हंतोपरि निवासेताहिकापे निसिदियाय या पूजावकोहि राजभितानि च नवतानि वसुसतानि पूजानि जीव देवकाले रखिता।
देखिए, प्रो० गोरावाला खुशालचन्द जैन, कलिंगाधिपति खारवेल : जैन-सिद्धान्त भास्कर : भाग १६, किरण २ (दिसम्बर १९४९), १४वीं पंक्ति, पृष्ठ १३५।

५. देखिए, जैन शिलालेख संग्रह : प्रथम भाग, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, बम्बई, पृष्ठ १, २।

सामने कमलह्रदमें[1] और श्री हेमचन्द्राचार्य (११४५-१२२९ वि० सं०) का शत्रुञ्जय पहाड़पर स्थित है। स्थूलभद्रके समाधि-स्थलको एक स्तूपके रूपमें, चीनी यात्री श्यूआनचुआंगने देखा था[2]। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही इन स्थानोंकी भक्ति-भावसे यात्रा करते हैं।

इन समाधि-स्थलोंकी स्तुतिका उल्लेख भी प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। प्रतिक्रमण-सूत्रमें लिखा है, "इस जीव-लोकमें जितनी भी निषीधिकाएँ हैं, उन्हें नमस्कार हो[3]।" साधुओंके दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमणमें 'निषिद्धिका दंडक' नामसे एक पाठ है, उसमें त्रिलोक-स्थित निषिद्धिकाओंकी वंदना की गयी है[4]।

१०. निर्वाण-भक्ति

'निर्वाण' शब्दकी व्युत्पत्ति

'निर्वाण' शब्द निःपूर्वक 'वो' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है—बुझा देना। बौद्ध-शास्त्रोंके अनुसार आत्माके बुझ जाने अर्थात् शान्त हो जानेको निर्वाण कहते हैं, जैसा कि बौद्ध पिटकोंमें 'शान्तं निब्बाणं' वाक्य आया है। अश्वघोषने दीपककी भाँति दुःख-क्लेशादिके क्षय होनेपर; आत्माका शान्त हो जाना ही निर्वाण माना है[5]।

जैन-धर्ममें आत्मा कभी बुझती नहीं, किन्तु समूचे कर्मोंके क्षय हो जानेसे

---

१. देखिए, मुनि कान्तिसागर, खोजकी पगडण्डियाँ : भारतीय ज्ञानपीठ काशी, अक्टूबर १९५३, पृ० २४४।

२. देखिए वही : पृष्ठ २४४।

३. "जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि····"
देखिए, 'प्रतिक्रमणपीठिकादण्डक' : धर्मध्यानदीपक : मांगीलाल हुकुमचन्द-पांड्या सम्पादित, कलकत्ता, पृष्ठ १८४–१८५।

४. प्रतिक्रमणसूत्र, मूलसूत्रके द्वितीय भागमें वर्णित है (डॉ० विण्टरनित्स, इण्डियन हिस्ट्री II, पृष्ठ ४७४)। दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमणका 'निषिद्धिका दण्डक', देखिए, दशभक्त्यादिसंग्रह : पृ० २७४–२८५।

५. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥
अश्वघोष : सौन्दरनन्द, १६।२८, २९।

एक नया रूप धारण कर लेती है। वहाँ 'बुझा देना' क्रिया, संसार और कर्मोंसे सम्बन्धित है। निर्वात आत्मा एक उस चिरन्तन सुखमें निमग्न हो जाती है, जिसे छोड़कर फिर उसे संसारमें नहीं आना होता[1]। इसी कारण तीर्थंकरों और उत्कृष्ट कोटिके वीतरागियोंके निधनको 'निर्वाण होना' कहते हैं। जैन शास्त्रोंमें 'निर्वाण' और 'मोक्ष' को पर्यायवाची माना गया है। समूचे कर्मोंसे छुटकारा होना 'मोक्ष' है[2], और सब कर्मोंका बुझ जाना 'निर्वाण' है।

परिभाषा

जो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं, उनकी भक्ति करना निर्वाण-भक्ति है। इस भक्तिमें, पंचकल्याणक-स्तवनसे तीर्थंकरोंको स्तुति और निर्वाण-स्थलोंके प्रति भक्ति-भाव शामिल है। निर्वाण-स्थल वे हैं, जहाँसे निर्वाण प्राप्त हुआ है। उनकी भक्ति संसार-सागरसे तारनेमें समर्थ है, अतः उन्हें तीर्थ भी कहते हैं।[3] तीर्थंकरके पञ्चकल्याण जिन स्थानोंसे सम्बन्धित हैं, वे भी तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थयात्राएँ और तीर्थस्तुतियाँ दोनों ही निर्वाण-भक्तिकी अंग हैं।

पंचकल्याणक-स्तुति

आचार्य कुन्दकुन्दने प्राकृत निर्वाण भक्तिमें लिखा है, "इस मर्त्य लोकमें जितने भी पंच-कल्याणोंसे सम्बन्धित स्थान हैं, मैं उन सबको, मन-वचन-कायकी शुद्धिसे, सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।[4]" आचार्य पूज्यपादने तो संस्कृत निर्वाणभक्तिके प्रारम्भमें ही कहा, "मैं भक्तिपूर्वक, भव्य जीवोंको सन्तुष्ट करनेवाले और अत्यन्त कष्टसे प्राप्त होनेवाले पंचकल्याणकोंके द्वारा, तीन लोकके

---

१. निर्वाति स्म निर्वाणः, सुखीभूतः अनन्तसुखं प्राप्तः।
पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : पृ० ९८।

२. 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'।
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : मथुरा, १०।२, पृ० २३१।

३. 'तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीर्थम्।' पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम : ४।४७ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ७८।

४. पञ्चकल्लाणठाणइ जाणवि संजादमच्चलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धी सव्वे सिरसा णमंसामि॥
आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृतनिर्वाणभक्ति : दशभक्ति : गाथा २३, पृष्ठ २४३।

परमगुरु, भगवान् महावीरकी स्तुति करता हूँ।[1]" उन्होंने १९ पद्योंमें पंचकल्याणों-का विशद वर्णन किया है और अन्तमें लिखा है कि—जो कोई इस पंचकल्याणपरक स्तोत्रको पढ़ता है, वह इस मनुष्यलोकमें अनन्त परम सुख भोग कर, अन्तमें अक्षय शिव-पद प्राप्त करेगा।[2]

तीर्थक्षेत्रोंके भेद

जहाँसे तीर्थंकर या दूसरे महात्मा निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, वे सिद्ध-क्षेत्र कहलाते हैं। संस्कृत निर्वाणभक्तिमें, सिद्ध-क्षेत्रोंके भी दो भेद किये गये हैं—एक तो वह जहाँसे केवल तीर्थंकर ही मोक्षको गये[3], और दूसरे वह जहाँसे अन्य महापुरुषों-का निर्वाण हुआ।[4] प्राकृत निर्वाणभक्तिमें, अतिशय तीर्थ क्षेत्रोंकी भी कल्पना की गयी है।[5] अतिशय क्षेत्र वे हैं, जो किसी मूर्ति अथवा तत्रस्थ देवताके चामत्कारिक

---

१. कल्याणैः संस्तोष्ये पञ्चभिरनघं त्रिलोकपरमगुरुम्।
भव्यंजनतुष्टिजननैर्दुरवापैः सन्मतिं भक्त्या॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृतनिर्वाणभक्ति, श्लो० २, दशभक्ति : पृ० २१९।

२. इत्येवं भगवति वर्धमानचन्द्रे यः स्तोत्रं पठति सुसन्ध्ययोर्द्वयोर्हि।
सोऽनन्तं परमसुखं नृदेवलोके भुक्त्वान्ते शिवपदमक्षयं प्रयाति॥
देखिए वही : श्लोक २०, पृ० २२७।

३. अष्टापद (ऋषभनाथ), चम्पापुरी (वासुपूज्य), ऊर्जयन्त (नेमिनाथ), पावापुरी (महावीर) और सम्मेदशिखर (बीस तीर्थंकर) सिद्धक्षेत्र कहलाते हैं।
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत निर्वाणभक्ति : दशभक्ति : श्लोक २२–२५, पृ० २२८–२३०।

४. शत्रुंजय, तुंगीगिरि, द्रोणगिरि, मेढ़गिरि, सिद्धवरकूट, विपुलाचल, बलाहक, विन्ध्यपर्वत, पोदनपुर, वृषदीपक, सह्याद्रि, हिमवान्, सुप्रतिष्ठ, दण्डात्मक, गजपन्थ और प्रथुसारयष्टिसे अन्य मुनि मोक्ष गये हैं। उनकी संख्याका निर्देश प्राकृत निर्वाणभक्तिमें हुआ है।
देखिए, संस्कृत निर्वाणभक्ति : श्लोक २५–२७ और प्राकृत निर्वाणभक्ति : गाथा ३–१९, दशभक्ति : पृष्ठ क्रमश : २३३,२३४,२३७-२४२।

५. णिव्वाणठाण जाणिवि अइसयठाणाणि अइसये सहिया।
संजाद मिच्चलोए सव्वे सिरसा णमंसामि॥
आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत निर्वाणभक्ति, दशभक्ति: गाथा २५, पृष्ठ २४४।

कृत्योंके कारण पूज्य बने हैं।[1]

दिगम्बर और श्वेताम्बरके भेदसे भी तीर्थक्षेत्रोंके दो भेद हैं। कुछ तीर्थ-स्थान ऐसे हैं, जिन्हें केवल दिगम्बर, और कुछ ऐसे हैं, जिन्हें केवल श्वेताम्बर पूजते हैं। कुछ तीर्थ-स्थल ऐसे भी हैं, जिनकी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही पूजा-अर्चा करते हैं।[2] शायद इनका अस्तित्व तबसे है, जब जैन-शासन अविभक्त था।

तीर्थक्षेत्र-स्तुति

आचार्य कुन्दकुन्दने प्राकृत निर्वाणभक्तिमें लिखा है, "अष्टापद (कैलाश) से वृषभनाथ, चंपापुरसे वासुपूज्य, ऊर्जयन्त (गिरिनार पर्वत) से नेमिनाथ, पावापुरसे महावीर और अवशिष्ट २० तीर्थंकर सम्मेदशिखरसे मोक्ष गये, उन सभीको हमारा नमस्कार हो।[3]" उन्होंने १९ गाथाओंमें विविध तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना की है।

आचार्य पूज्यपादने भी संस्कृत निर्वाणभक्तिके १२ पद्योंमें, तीर्थंकर, गणधर, श्रुतधर और अन्य वीतरागी महापुरुषोंकी निर्वाणभूमियोंको भक्ति-

---

१. पोदनपुरके बाहुबली, श्रीपुरके पार्श्वनाथ, हुलगिरिके शङ्खजिन, धाराके पार्श्वनाथ, नागह्रदके नागह्रदेश्वरजिन, सम्मेदशिखरकी अमृतवापिका, मङ्गलपुरके श्री अभिनन्दनजिन अधिक प्रसिद्ध हैं।
देखिए, श्री मदनकीर्ति, शासनचतुस्त्रिंशिका : सरसावा, वि० सं० २००६।

२. गजपन्था, तुंगीगिरि, पावागिरि, द्रोणगिरि, मेढ़गिरि, कुंथुगिरि, सिद्धवरकूट और बड़वानी आदिको केवल दिगम्बर और आबूगिरि तथा शंखेश्वर आदिको केवल श्वेताम्बर मानते हैं। अष्टापद, चम्पापुर, गिरनार, शत्रुञ्जय और सम्मेदशिखर तथा पावापुरकी दोनों ही समभावसे वन्दना करते हैं।
देखिए, पं० नाथूराम प्रेमी, हमारे तीर्थ क्षेत्र : जैन साहित्य और इतिहास : बम्बई, अक्टूबर १९५६, पृ० ४२४।

३. अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो॥
वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥
आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत निर्वाणभक्ति : दशभक्ति : गाथा १,२, पृ० २३७।

पूर्वक शुद्ध मन-वचन-कायसे नमस्कार किया है।[1] उनमें प्रथम छह, तीर्थंकरोंकी निर्वाणभूमियों और अवशिष्ट छह, अन्य वीतरागियोंके निर्वाणस्थलोंसे सम्बन्धित हैं। प्रथम छहमें वर्णित तीर्थभूमियोंके प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए उन्होंने कहा, "वाक्स्तुतिरूप पुष्पोंसे गूँथी हुई मालाओंको लेकर, भगवान्‌की निर्वाण भूमियोंके चारों ओर, मनरूपी हाथोंसे चढ़ाते हुए, और आदरके साथ उन भूमियोंकी परिक्रमा करते हुए, हमको परम गति (मोक्ष) प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना है।[2] अन्योंके प्रति भी भक्ति-भाव दिखाते हुए उन्होंने लिखा है कि— जैसे गुड़का रस आटेको मिठास देता है, वैसे ही पुण्य-पुरुषोंके द्वारा सेवन किये गये स्थान साधारण प्राणियोंको पवित्रता प्रदान करते हैं।[3]

मुनि उदयकीर्तिने अपभ्रंश निर्वाणभक्तिमें लिखा है कि वृषभनाथकी निर्वाण-भूमि कैलास पहाड़को प्रणाम करनेसे धर्म-लाभ होता है।[4] उन्होंने चंपापुरीकी 'पुणु चंपनयरि जिणुवासुपुज्ज, णिव्वाण-पत्तु छंडेवि रज्जु'के द्वारा और पावापुरकी 'पावापुर वंदउं वड्ढमाणु, जिणि महियलि पयडिउ विमल णाणु' कहकर वंदना की है। बीस जिनेन्द्रोंकी निर्वाणभूमि सम्मेदमहागिरिका 'हउ वंदउं' कहकर सम्मान किया है।[5] उन्होंने पोदनपुर और श्रीपुरका भी स्मरण किया है।

श्री मदनकीर्त्ति (वि० सं० १२८५) की शासनचतुस्त्रिंशिकामें ८ सिद्ध-क्षेत्र और १८ अतिशयक्षेत्रोंकी स्तुति की गयी है। पावापुरकी वन्दना करते हुए उन्होंने लिखा है, "जिन्हें तिर्यंच भी भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं, जिनके

---

१. यत्रार्हतां गणभृतां श्रुतपारगाणां निर्वाणभूमिरिह भारतवर्षजानाम्।
तामद्य शुद्धमनसा क्रियया वचोभिः संस्तोतुमुद्यतमतिः परिणौमि भक्त्या॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत निर्वाणभक्ति, दशभक्ति : श्लोक २१, पृ० २२७।

२. माल्यानि वाक्स्तुतिमयैः कुसुमैः सुदृब्धान्यादाय मानसकरैरभितः किरन्तः
पर्येम आदृतियुता भगवन्निषद्याः संप्रार्थिता वयमिमे परमां गतिं ताः॥
देखिए वही : श्लोक २७, पृ० २३२।

३. इक्षोर्विकाररसपृक्तगुणेन लोके पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत्।
तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं स्थानानि तानि जगतामिह पावनानि॥
देखिए वही : ३१वाँ श्लोक, पृ० २३४।

४. कइलास-सिहरि सिरि-रिसहनाहु, जो सिद्धउ पयडमि धम्मलाहु।
मुनि उदयकीर्ति, अपभ्रंश निर्वाणभक्ति : अप्रकाशित।

५. सम्मेद महागिरि सिद्ध जे वि, हउं वंदउं वीस जिणिंद ते वि।
देखिए वही।

चरणद्वयके दर्शन कर लेनेसे भव्य जीव दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते तथा जो पावापुरमें इन्द्र-द्वारा सम्पूजित हैं, वे भगवान् जिनेन्द्र, शासनकी सदैव रक्षा करें।[1]" गिरिनारपर विराजमान नेमिनाथकी नग्न मूर्तिके दर्शनोंसे संसारी जनकी चित्त-भ्रान्ति और अज्ञान दूर हो जाते हैं।[2] अतिशय क्षेत्रोंकी वन्दना करते हुए उन्होंने लिखा कि—नागह्रदतीर्थके पार्श्वजिनके दर्शन करने मात्रसे कोढ़ आदि असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं।[3] पश्चिमी समुद्रतटपर अवस्थित श्री चन्द्रप्रभके अभिषेक-जलसे शरीर सुन्दर और सुवर्णमय हो जाता है।[4] पाँच सौ धनुष ऊँची आदिनाथकी प्रतिमाकी छायासे लवण-समुद्रका खारा जल मीठा हो जाता है।[5]

---

१. तिर्यञ्चोऽपि नमन्ति यं निज-गिरा गायन्ति भक्त्याशया
दृष्टे यस्य पदद्वये शुभदृशो गच्छन्ति नो दुर्गतिम्।
देवेन्द्रार्चित-पाद-पंकज-युगः पावापुरे पापहा
श्रीमद्वीरजिनः स रक्षतु सदा दिग्वाससां शासनम्॥
मदनकीर्ति, शासनचतुस्त्रिंशिका : श्लोक १९।

२. सौराष्ट्रे यदुवंश-भूषण-मणेः श्रीनेमिनाथस्य या
मूर्तिर्मुक्तिपथोपदेशन-परा शान्ताऽऽयुधाऽपोहनात्।
वस्त्रैराभरणैर्विना गिरिवरे देवेन्द्र-संस्थापिता
चित्तभ्रान्तिमपाकरोतु जगतो दिग्वाससां शासनम्॥
मदनकीर्ति, शासनचतुस्त्रिंशिका : श्लोक २०, पृष्ठ १४।

३. स्रष्टेति द्विजनायकैर्हरिरिति यः प्रोद्गीयते वैष्णवै-
र्बौद्धैर्बुद्ध इति प्रमोदविवशैः शूलीति माहेश्वरैः।
कुष्ठानिष्ट-विनाशनो जनदृशां योऽलक्ष्यमूर्तिर्विभुः
स श्रीनागह्रदेश्वरो जिनपतिर्दिग्वाससां शासनम्॥
देखिए वही : श्लोक १३, पृष्ठ ९–१०।

४. यस्य स्नानपयोऽनुलिप्तमखिलं कुष्ठं द्रुतीध्वस्यते
सौवर्णस्तव केशनिर्मितमिव क्षेमङ्करं विग्रहम्।
शश्वद्भक्तिविधायिनां शुभतमं चन्द्रप्रभः स प्रभुः
तीरे पश्चिमसागरस्य जयताद्दिग्वाससां शासनम्॥
देखिए वही : श्लोक १६, पृ० १२।

५. क्षाराम्भोधिपयः सुधाद्रव इव प्रत्यक्षमास्वाद्यते
........................रसकृत् यच्छायया संभरत्।
पूतः पूततमः स पञ्चशत-कोदण्ड-प्रमाणः प्रभुः
श्रीमानादिजिनेश्वरो स्थिरयते दिग्वाससां शासनम्॥
देखिए वही : श्लोक १८, पृ० १३।

श्रीमद्विद्यानन्द स्वामीने, श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्रमें, श्रीपुरके जिनमन्दिरमें प्रतिष्ठित पार्श्वप्रभुकी मूर्त्तिकी वन्दना करते हुए लिखा है, "हे अर्हन् ! आप करुणाके निधान हैं। अतः संसार-सागरमें भटकते हुए हम सबको शरण देवें और संसार-परिभ्रमणसे मुक्त करें।[1]" श्री जिनप्रभसूरिने 'हस्तिनापुरतीर्थ-स्तवनम्'में कहा है, "तीन तीर्थंकरों (शान्ति, कुन्थु और अरह) के चार कल्याणकोत्सवोंसे सुशोभित और गंगाके सलिलसे पवित्र गजपुर तीर्थरत्न, चिरकाल तक जीवित रहे।" उन्होंने ही शत्रुञ्जयतीर्थकी महिमाका उल्लेख करते हुए लिखा है, "हे शत्रुञ्जयशैलेश ! बड़े-बड़े विद्वान् तुम्हारे गुणोंका लेश भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हैं। तुम्हारी यात्राके लिए समुद्यत संघके रथ, अश्व, उष्ट्र और नृपोंके पद-तलोंसे उठी हुई धूल भव्य जनोंके पापोंको दूर करनेमें समर्थ है।"[3]

तीर्थ-यात्राएँ

प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'राजावलिकथे' में लिखा है कि—भद्रबाहुके शिष्य विशाखाचार्यने चोल और पाण्ड्य देशोंमें पर्यटन करते हुए, वहाँके जिनालयोंकी

---

१. शरण्यं नाथाऽर्हन् भव-भव भवारण्य-विगति-
च्युतानामस्माकं निरवकर-कारुण्य-निलय।
यतोऽगण्यात्पुण्याच्चिरतरमपेक्ष्यं तव पदं
परिप्राप्ता भक्त्या वयमचल-लक्ष्मीगृहमिदम् ॥
श्रीमद्विद्यानन्दस्वामी, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : हिन्दी-अनूदित, सरसावा, अगस्त १९४९, श्लोक २९, पृ० ५१।

२. तादृग्विधैरतिशयैः पुरुषप्रणीतैर्विभ्राजितं जिनपतित्रितयीमहैश्च।
भागीरथीसलिलसङ्गपवित्रमेतज्जीयाच्चिरं गजपुरं भुवि तीर्थरत्नम् ॥
श्रीजिनप्रभसूरि, हस्तिनापुरतीर्थस्तवनम् : विविधतीर्थकल्प : सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, १९३४ ई०, श्लोक १९, पृष्ठ ९४।

३. श्रीशत्रुञ्जय शैलेश ! लेशतोऽपि गुणास्तव।
कैर्न्यावर्णयितुं नाम पार्यन्ते विदुषैरपि ॥
त्वद्यात्राप्रचलत्संघरथाश्वोष्ट्रनृपादजः।
रेणुरङ्गे लगन् भव्यपुंसां पापं व्यपोहति ॥
देखिए, वही : शत्रुञ्जयतीर्थकल्प : श्लोक १२५, १२७, पृष्ठ ५।

वन्दना की थी।[1]

गुजरातके वस्तुपाल और तेजपाल (१३वीं शताब्दी विक्रम) ने, १३ बार तीर्थ-यात्राएँ कीं, उनमें ३ करोड़ १४ लाख १८ हज़ार ८ सौ रुपया व्यय हुआ।[2] मन्त्री वस्तुपालने, तेजपालकी पत्नी अनुपमा देवीकी आज्ञासे, १८ करोड़, ९६ लाख रुपया शत्रुञ्जयमें, १२ करोड़ ८० लाख उज्जयन्तमें और १२ करोड़ ५३ लाख अर्बुद शिखरपर व्यय किया था।[3] मन्त्रीश्वर वाग्भट (१४वीं शताब्दी विक्रम) ने भी शत्रुञ्जयकी तीर्थ-यात्रा की थी। वहाँ आदीश्वरप्रासादके उद्धार-में उनका २ करोड़ ९७ लाख रुपया खर्च हुआ था।[4]

सम्राट् कुमारपालने गिरिनारकी तीर्थ-यात्रा की थी। उसपर चढ़नेके लिए सीढ़ियाँ उसीने लगवायी थीं।[5] उसने शत्रुञ्जय तीर्थक्षेत्र के उद्धारमें १ करोड़ ६० लाख रुपया व्यय किया था।[6]

---

१. के. भुजबली शास्त्री, 'दक्षिणमें जैनधर्म', हुकुमचन्द अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० ३७९।

२. त्रयोदश तीर्थयात्राः संघपतीभूय कृताः।......सर्वाग्रेण त्रीणि कोटिशतानि चतुर्दशलक्षा अष्टादश सहस्राणि अष्टशतानि लोष्टिकत्रितयोनानि द्रव्य-व्ययः।
आचार्य जिनप्रभसूरि, 'वस्तुपालतेजःपालमन्त्रिकल्पः', विविध तीर्थकल्पः पृ० ८०।

३. तमादाय श्रीवस्तुपालतेजःपालजायामनुपमादेवीं मान्यतयाऽपृच्छत्–क्वैतन्निधीयत ? इति। तयोक्तम्–गिरिशिखिर एवैतदुच्चैः स्थाप्यते यथा प्रस्तुतनिधिवन्नान्यसाद्भवति। तच्छ्रुत्वा श्रीवस्तुपालस्तद् द्रव्यं श्री शत्रुञ्जयोज्जयन्तादावव्ययत्।
अष्टादशकोट्यः षण्णवतिर्लक्षाः श्री शत्रुञ्जयतीर्थे द्रविणं व्ययितम्। द्वादशकोट्योऽशीतिलक्षाः श्रीउज्जयन्ते। द्वादशकोट्यस्त्रिपञ्चाशल्लक्षा-अर्बुदशिखरे लूणिगवसत्याम्।
देखिए, वही: पृ० ७९।

४. तिस्रः कोटीस्त्रिलक्षोना व्ययित्वा वसु वाग्भटः।
मन्त्रीश्वरो युगादीशप्रासादमुददीधरत्॥
देखिए, वही: शत्रुञ्जयतीर्थकल्पः श्लोक ६९, पृ० ३।

५. मेरुतुङ्गाचार्य (वि. सं. १३६१), प्रबन्धचिन्तामणि: सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, वि. सं. १९८९, चतुर्थ प्रकाश, पृ० ९३।

६. देखिए, वही: पृष्ठ ८७।

विक्रमकी १४वीं शताब्दीके प्रसिद्ध आचार्य जिनप्रभसूरिने पैदल ही, भारतके सभी जैन तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना की थी, और उनका ऐतिहासिक तथा परम्परानुश्रुत वर्णन विविधतीर्थकल्पमें उपलब्ध होता है।[1] तपागच्छीय मुनि शीलविजयने भी सभी जैन तीर्थों की पैदल यात्रा की, और उनका देखा-सुना वर्णन 'तीर्थमाला'में निबद्ध किया।[2] वाचनाचार्य राजशेखरने अपने सहयोगी मुनियोंके साथ, बनारस, राजगृह, पावापुरी और उद्दण्डविहार आदिकी वि. सं. १३५२में तीर्थ-यात्रा की थी।[3]

अपनी माँकी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके लिए चामुण्डराय (११वीं शताब्दी विक्रम) संघसहित पोदनपुरकी तीर्थ-यात्राके निमित्त गये थे। किन्तु पोदनपुरके संदिग्ध होनेसे यह यात्रा गोम्मटेश्वरकी रचनाके रूपमें प्रतिफलित हुई।[4]

वि. सं. १६६१ में, शहज़ादा सलीमके कृपापात्र और जौहरी श्री हीरानन्द मुकीमने प्रयागसे सम्मेदशिखरके लिए एक संघ चलाया था। उसका विस्तृत वर्णन महाकवि बनारसीदासके अर्धकथानकमें मिलता है।[5] कवि बनारसीदासने स्वयं भी बनारसकी तीर्थ-यात्रा की थी।[6] आगरेके कुँअरपाल सोनपालने भी,

---

१. देखिए, 'विविध तीर्थकल्प' : प्रास्ताविक निवेदन : पृ० १।

२. मुनि शीलविजयने अपनी यात्रा वि. सं. १७११में प्रारम्भ की और वि. सं. १७४८में समाप्त की। उनके ग्रन्थ 'तीर्थमाला'के पहले भागमें ८५, दूसरेमें ५५, तीसरेमें १७३ और चौथेमें ५५ पद्य हैं।
'प्राचीन तीर्थमाला संग्रह' : भावनगर, वि. सं. १९७८।

३. युगप्रधानाचार्य गुर्वावली : पृ० ६०।

४. सुरेन्द्रनाथ श्रीपालजी जैन, जैनबद्रीके बाहुबली तथा दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ : जैन पब्लिसिटी ब्यूरो, बम्बई, १९५३, पृ० २९।

५. साहिब साहि सलीमकौ, हीरानन्द मुकीम।
ओसवाल कुल जौंहरी, बनिक वित्तकी सीम॥
तिनि प्रयागपुर नगरसौं, कीनौ उद्दम सार।
संघ चलायौ सिखिरकौं, उतर्यौ गंगापार॥
कवि बनारसीदास, अर्धकथानक,बम्बई : अक्टूबर १९५७, दोहरा २२४-२२५, पृ० २५-२६।

६. चले सिवमती न्हानकौं, जैनीपूजन पास।
तिन्हके साथ बनारसी, चले बनारसिदास॥
देखिए, वही : २३१वाँ दोहरा, पृ० २६।

संघसहित सम्मेदशिखरकी तीर्थ-यात्रा (वि. सं. १६७१) की थी ।[1]

११. नन्दीश्वर-भक्ति

नन्दीश्वर-द्वीप

जैन-शास्त्रोंके अनुसार, मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। वे एक-दूसरेको घेरे हुए, दूने विस्तार और चूड़ीके आकारवाले हैं[2]। उन सबके मध्यमें जम्बूद्वीप है, उसका विस्तार एक लाख योजन है[3], उसे दो लाख योजनका लवण-समुद्र घेरे हुए है। इसी क्रमसे आठवाँ द्वीप, नन्दीश्वर द्वीप है। उसका विस्तार एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है, वह नन्दीश्वर समुद्रसे घिरा हुआ है।

उसकी चार दिशाओंमें काले वर्णके चार अञ्जनगिरि हैं। जिनमें-से प्रत्येक ८४००० योजन ऊँचा है। इनके चारों ओर चार-चार जलवापिकाएँ हैं, जो एक लाख योजन लम्बी-चौड़ी हैं। इन सोलह वापिकाओंके मध्यमें सफ़ेद रंगके दधिमुख पर्वत हैं, जो दस-दस सहस्र योजन ऊँचे हैं। प्रत्येक जलवापिकाके बाहरके कोनेमें लाल वर्णके दो-दो रतिकर पर्वत हैं, वे एक-एक सहस्र योजन ऊँचे हैं।

इस प्रकार चार अञ्जनगिरि, सोलह दधिमुख और बत्तीस रतिकर पर्वतोंका योग बावन होता है। इनमें प्रत्येकपर एक-एक विशाल जिनमन्दिर है, सभी अकृत्रिम हैं, और अनादि कालसे चले आ रहे हैं। हरेक जिनमन्दिर ७२ योजन ऊँचा है, उनमें पाँच सौ धनुष ऊँची जिन-प्रतिमाएँ विराजमान हैं[4]।

---

१. मुनि कान्तिसागर, खोजकी पगडण्डियाँ : पृ० २६२ ।

२. जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥
द्वि-द्विर्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : ३।७–८, पृ० ६७–६८ ।

३. तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन-शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥
देखिए वही : ३।९, पृ० ६८ ।

४. नन्दीश्वर-द्वीपके इस वर्णनके लिए देखिए, यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : भाग २, महाधिकार ५वाँ, गाथा ५२–११५, पृष्ठ ५३६–५४४ ।

नन्दीश्वर-भक्तिकी परिभाषा

नन्दीश्वर-द्वीपके अकृत्रिम जिन-मन्दिरों और उनमें विराजमान जिनप्रतिमाओंकी पूजा-अर्चा करना, नन्दीश्वर-भक्ति कहलाती है। कार्त्तिक, फाल्गुन और आषाढ़के अन्तिम आठ दिनोंमें, सौधर्म प्रमुख विबुधपति, नन्दीश्वर-द्वीपमें जाते हैं और दिव्य अक्षत, गन्ध, पुष्प और धूप आदि द्रव्यसे उन अप्रतिम प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं[1]। मध्यलोकके अन्य द्वीपोंके साधारण जीव वहाँ नहीं जा सकते। वे यहाँपर ही अपने मन्दिरोंमें नन्दीश्वर-द्वीपका चित्र बनाते हैं, और अप्रत्यक्ष-रूपसे प्रतिमाओंकी स्थापना करके पूजा-अर्चा करते हैं। यह ही नन्दीश्वर-भक्ति है। आचार्य पूज्यपादने इसी भक्तिमें ८ प्रातिहार्य और ३४ अतिशयोंका वर्णन किया है।[2]

अष्टाह्निक-पर्व

उपरोक्त ८ दिनोंमें किया जानेवाला समारोह और पूजन आदि अष्टाह्निक-पर्व कहा जाता है। इन दिनों सौधर्म-स्वर्गका इन्द्र नन्दीश्वर-द्वीपकी प्रतिमाओंका अभिषेक करता है। अन्य इन्द्र भी, उसके इस कार्यमें सहायक बनते हैं। उनकी महादेवियाँ अष्ट मंगल-द्रव्य धारण किये होती हैं। अप्सराएँ नृत्य करती हैं। इस पूजा-वैभवका वर्णन बृहस्पति भी नहीं कर सकता[3]।

श्री रविषेणाचार्य (वि० सं० ७३३) ने पद्मपुराणमें लिखा है, "आषाढ़ शुक्ला अष्टमीसे पूर्णिमा तकके लिए, अष्टाह्निका-पर्वका आरम्भ करते हुए, महा-

---

१. आषाढकार्तिकाख्ये फाल्गुनमासे च शुक्लपक्षेऽष्टम्याः।
आरभ्याष्टदिनेषु च सौधर्मप्रमुखविबुधपतयो भक्त्या॥
तेषु महामहमुचितं प्रचुराक्षतगन्धपुष्पधूपैर्दिव्यैः।
सर्वज्ञप्रतिमानामप्रतिमानां प्रकुर्वते सर्वहितम्॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत-नन्दीश्वरभक्ति : दशभक्त्यादिसंग्रह : श्लो० १३–१४, पृष्ठ २०९।

२. देखिए वही : श्लोक ३८–५९, पृष्ठ २१७–२२३।

३. भेदेन वर्णना का सौधर्मः स्नपनकर्तृतामापन्नः।
परिचारकभावमिताः शेषेन्द्रारुन्द्रचन्द्रनिर्मलयशसः॥
मङ्गलपात्राणि पुनस्तद्देव्यो बिभ्रति स्म शुभ्रगुणाढ्याः।
अप्सरसो नर्तक्यः शेषसुरास्तत्र लोकनाव्यधियः॥
देखिए, वही : श्लो० १५–१६, पृ० २१०।

राजा दशरथने, तूर्यनादके साथ ही भगवान् जिनेन्द्रका अभिषेक किया। उन्होंने ८ दिन तक उपवास किया और प्रत्येक दिन अभिषेकके उपरान्त नैसर्गिक पुष्पों-से भगवान्की पूजा-अर्चा की, ठीक उसी भाँति जैसे कि सुरोंसहित सुरेन्द्र करता है[1]।" भगवज्जिनसेनके आदिपुराणके अनुसार सम्राट् महाबल अष्टाह्निक यज्ञ करके आयुपर्यन्त मन्दिरमें ही निवास करने लगा था[2]।

ब्रह्मचारी नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोशमें लिखा है कि—अकलङ्क देवके द्वारा बौद्ध गुरुओंके परास्त होनेपर ही, कलिङ्ग देशके रत्नसञ्चयपुरके राजा हिमशीतलकी पत्नी मदनसुन्दरी, अष्टाह्निका-पर्वके उपरान्त, जैन-रथ निकालनेमें समर्थ हो सकी थी[3]। हरिषेणाचार्यके वृहत्कथाकोशमें लिखा है, "चम्पापुरके राजा सिंहरथ, साकेतके राजा अंशुमान् और इलापुरके राजा सुदर्शन, अपनी-अपनी राजधानियोंमें, भक्तिपूर्वक अष्टाह्निका-पर्व मनाते थे[4]। आचार्य जिन-प्रभसूरिने भी नन्दीश्वर-द्वीपकल्पमें लिखा है, "पूर्वके अञ्जनगिरिपर, चार द्वार-वाले जिनालयमें, चिरन्तन-प्रतिमाओंका अभिषेक-पूजन करते हुए इन्द्र, अष्टाह्नि-कोत्सव मनाया करता है।"[5]

नन्दीश्वर-स्तुति

नन्दीश्वर द्वीपके अकृत्रिम चैत्यालयोंको नमस्कार करते हुए आचार्य पूज्य-पादने लिखा है, "जिनमें भगवान् जिनेन्द्रकी पाँच सौ धनुष ऊँची, मणि-स्वर्ण और चाँदीसे जड़ी हुई, करोड़ों सूर्योंकी प्रभासे भी अधिक चमकवाली प्रतिमाएँ विराजमान हैं, उन चैत्यालयोंको मैं नमस्कार करता हूँ। वे भानुके विमानके

---

१. आचार्य रविषेण, पद्मपुराण : माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, २९।७-९।

२. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : प्रथम भाग, ५।२२७।

३. देखिए, मूलचन्द वत्सल, जैनाचार्य : दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, पृष्ठ १४५।

४. नन्दीश्वर दिनेष्वेते त्रयोऽपि स्व-स्वपत्तने।
महामहं कुर्वन्ति जिनानां भक्तितत्पराः॥
हरिषेणाचार्य, बृहत्कथाकोश (वि०सं० ९८९) : भारतीय विद्या भवन, बम्बई, पृष्ठ ३२०।

५. प्राच्येऽञ्जनगिरौ शक्रः कुरुतेऽष्टाह्निकोत्सवम्।
प्रतिमानां शाश्वतीनां चतुर्द्वारे जिनालये॥
आचार्य जिनप्रभसूरि, नन्दीश्वरद्वीपकल्पः, विविध तीर्थकल्प : श्लोक ४०, पृ० ४९।

समान देदीप्यमान, अद्वितीय, यश और तेजके अधिष्ठान रूप हैं। उनके दर्शनोंसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।"[1] उन्होंने यह भी लिखा है कि जो प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या, तीनों ही काल, नन्दीश्वरकी भक्तिमें स्तोत्र-पाठ करता है, वह अनन्त काल तक रहनेवाले मोक्षको प्राप्त कर लेता है।[2] आचार्य जिनप्रभसूरिने भी लिखा है कि नन्दीश्वरकी भक्तिसे मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त होती है।[3] श्री कनककीर्त्तिने नन्दीश्वरद्वीप-पूजा अपभ्रंशमें[4] और अष्टाह्निक-पूजा प्राकृतमें लिखी है।[5]

१२. चैत्य-भक्ति

'चैत्य' शब्दका प्रयोग—चैत्य और वृक्ष

'चैत्य' शब्द 'चिति' से बना है। 'चिति' का अर्थ है चिता। चितापर बने स्मृति-चिह्नोंको चैत्य कहते हैं। बहुत पहले इन स्थानोंपर वृक्ष लगाये जाते थे, जो चैत्य-वृक्ष कहलाते थे। महाभारतमें चैत्य-वृक्षोंके प्रति सम्मान दिखाते हुए लिखा है, "चैत्य-वृक्षोंको छोड़कर और सब छोटे-छोटे वृक्ष काट डालना चाहिए।"[6] जैन-परम्परा अनादिकालसे चैत्य-वृक्षोंको पूज्य मानती आ रही है।

---

१. येषु जिनानां प्रतिमाः पञ्चशतशरासनोच्छ्रिताः सत्प्रतिमाः।
मणिकनकरजतविकृता दिनकरकोटिप्रभाधिकप्रभदेहाः॥
तानि सदा वन्देऽहं भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि।
यशसां महसां प्रतिदिशमतिशयशोभाविभाञ्जि पापविभञ्जि॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत नन्दीश्वरभक्ति : 'दशभक्तिः' : श्लोक २५-२६।

२. सन्ध्यासु तिसृषु नित्यं पठेद्यदि स्तोत्रमेतदुत्तमयशसाम्।
सर्वज्ञानां सार्वं लघु लभते श्रुतधरेडितं पदममितम्॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत नन्दीश्वरभक्ति : दशभक्त्यादिसंग्रह : पद्य ३७, पृ० २१६।

३. वर्ष-दीप-दिनारब्धानुपवासान् कुहूतिथौ।
कुर्वन्नन्दीश्वरोपास्त्यै श्रायसीं श्रियमर्जयेत्॥
आचार्य जिनप्रभसूरि, नन्दीश्वरद्वीपकल्पः, विविधतीर्थकल्प : श्लोक ४६, पृ० ४९।

४. आमेर शास्त्रभण्डार जयपुरकी ग्रन्थ सूची : पृ० ७९।

५. राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थ सूची : भाग २, पृ० ५६।

६. Mahabharat, Pratapchandra Roy's Translation, B. K. XII. 59.

प्रत्येक तीर्थंकरके समवशरणकी रचनामें, चैत्यवृक्षोंका मुख्य स्थान होता है। भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने महापुराणमें भगवान् ऋषभदेवके समवशरणके चैत्य-वृक्षोंकी छटाका सुन्दर चित्र खींचा है।[१] उनसे भी पूर्व हुए श्रीयतिवृषभकी तिलोयपण्णत्तिमें चैत्य-वृक्षोंकी दिव्य शक्तिको स्वीकार किया गया है, यहाँतक कि उनको जीवोंकी उत्पत्ति और विनाशका निमित्त कारण मान लिया है।[२]

चैत्य और सदन

द्राविड़ोंके गाँवके पुरुषकी चिता, श्मशान-भूमिमें पहुँचनेके पूर्व एक झोंपड़ी-में रखी जाती थी।[३] आगे चलकर इसी रिवाजके अनुसार समाधियोंपर झोपड़ो-नुमा इमारत बनने लगी। चितासे सम्बन्धित होनेके कारण इसे भी चैत्य ही कहा गया।[४] रामायणमें चैत्यशब्द चैत्य-सदनके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।[५] रावणने अशोक-वाटिकामें चैत्य-सदनका निर्माण करवाया था। महात्मा बुद्धने अनेकों बार अपने वार्त्तालापोंमें वैशालीके चैत्योंका उद्धरण दिया है।[६] दीक्षा लेनेके उपरान्त भगवान् महावीर भी द्विपालसा नामके चैत्यमें ठहरे थे। इसी चैत्यमें महावीरके पिता राजा सिद्धार्थ, जो पार्श्वनाथके अनुयायी थे, प्रायः दर्श-नार्थ जाया करते थे।[७] प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने भी अभिधानचिन्तामणिमें चैत्य-शब्द 'चैत्य-सदन' के अर्थमें ही स्वीकार किया है।[८]

---

१. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण : प्रथम भाग, २२।१८६–१९४।
२. श्री यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, ३।३६–३७।
३. N. Venkata Ramanayya, An Essay on the origin of the South Indian Temple, Methodist publishing house, Madras, 1930, page 75.
४. जबलपुरके निकट एक लघुतम पहाड़ीपर जैन-चैत्यालय है, जिसे लोग 'मढ़ियाजी' कहते हैं।
५. महर्षि वाल्मीकि, रामायण : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, ५।१५।
६. Rhys Davids, The dialogues of Buddha, vol II, p. 80.
७. Dr. Hermann Jacobi, Studies in Jainism, Partone, Jina Vijaya Muni Edited, Jaina Sahitya Samsodhaka Karyalya, Ahmedabad, 1946, p. 5, F. N. 8.
८. आचार्य हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि : ४था सर्ग, ६०वाँ श्लोक।

चैत्य यक्षोंके आवासगृह थे। मुनि कान्तिसागरने लिखा है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दीमें सभी जिन-सदन, यक्ष-चैत्योंके रूपमें ही मिलते थे।[1] रायस डेविडने भी स्वीकार किया है कि बुद्धसे पूर्व यक्ष-चैत्य थे, उनमें यक्षोंकी भक्ति होती थी।[2]

चैत्य और प्रतिमा

श्री अभयदेव सूरिने, भगवती सूत्रकी वृत्तिमें जिन-प्रतिमाको 'चैत्य' शब्दसे उल्लेखित किया है।[3] आचार्य कुन्दकुन्दने षट्पाहुडके बोध-प्राभृतमें, जिनेन्द्रके बिम्ब और प्रतिमाको चैत्य कहा है।[4] अभिधान-राजेन्द्रकोशमें लिखा है, "नित्य पूजाके लिए जो अर्हन्तकी प्रतिमा स्थापित की जाती है, वह चैत्य कहलाती है।"[5]

चैत्य और आत्मा

आचार्य कुन्दकुन्दने शुद्ध ज्ञानरूप आत्माको भी चैत्य कहा है, और ऐसी आत्माको धारण करनेवाले, वीतरागी मुनिको चैत्य-गृह माना है।[6] उन व्यक्तियों की समाधिपर ही चैत्यालय बनाये जाते हैं, जिन्होंने शुद्ध आत्मा प्राप्त कर ली हो। जैनोंमें केवल पंच-परमेष्ठियोंके ही चैत्यालय बनते हैं।

चैत्यालय और मन्दिर

चैत्यालय छोटा और मन्दिर बड़ा होता है। अपेक्षाकृत चैत्यालय पुराना है। मन्दिर देवोत्सवके लिए बने थे और चैत्यालयोंका जन्म महापुरुषोंकी समाधि पर हुआ था। आज दोनों ही जिन-सदन हैं।

---

१. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, पृष्ठ ६९।

२. Rhys Davids, The Dialogues of Buddha, Vol. II, p. 110, F, N.

३. भगवती सूत्र : अभयदेवसूरिकी वृत्तिके साथ, आगमोदय समिति, बम्बई, प्रथम उत्थान।

४. आचार्य कुन्दकुन्द, बोधपाहुड : अष्टपाहुड : मारौठ, ९वीं गाथाका पं० जयचन्द छाबड़ा कृत हिन्दी-अनुवाद।

५. 'नित्यपूजार्थं गृहे कारितार्हत्प्रतिमा चैत्यमिति'। अभिधान-राजेन्द्रकोश : भाग ५, पृष्ठ १३६६।

६. आचार्य कुन्दकुन्द, बोध पाहुडः अष्टपाहुड : मारौठ, गाथा ८।

जैन पुरातत्त्वमें चैत्योंका स्थान

यदि मोहनजोदड़ोकी विवादग्रस्त मूर्त्तियोंको छोड़ दिया जाये, तो भी यह सिद्ध है कि नन्दोंसे पूर्व ही, जैन मूर्त्तियोंका निर्माण होने लगा था। सम्राट् खारवेल अपने पूर्वजोंकी, नन्दोंके द्वारा अपहृत, जिन-मूर्त्तिको फिर जीत कर लाया था।[1] इसके अतिरिक्त तेरापुरमें राजा करकण्डु-द्वारा निर्मापित गुफा-मन्दिरों और मूर्त्तियोंका अस्तित्व आज भी पाया जाता है। इनका निर्माण-काल ईसासे आठ शताब्दी पूर्व माना गया है।[2] अभी कुछ समय पूर्व लोहिनीपुर (पटना)में एक जिन-मूर्त्ति मिली है, जो मौर्य-कालमें बनी थी। डॉ० जायसवालने उसका समय ईसासे तीन शताब्दी पूर्व निर्धारित किया है।[3] श्री वी० ए० स्मिथका कथन है कि ईसासे १५० वर्ष पूर्व, मथुरामें एक जैन-मन्दिर था।[4]

चैत्य-भक्ति

चैत्य-वृक्ष, चैत्य-सदन, प्रतिमा, विम्ब और मन्दिरोंकी पूजा-अर्चा चैत्य-भक्ति कहलाती है। कहा जाता है कि चैत्य-भक्तिका प्रारम्भ गौतम गणधरने 'जयति भगवान्' से किया था। उसका भाव है, "भगवान् स्वर्णके कमलोंपर पैर रखते हुए चलते हैं। उन चरणोंमें अमरोंके मणि-जटित मुकुट भी झुका करते हैं। उनकी शरणमें जानेवाले कलुष-हृदय 'विगतकलुष,' और परस्परवैरी, परस्पर विश्वासको प्राप्त हो जाते हैं।"[5]

---

१. देखिए, हाथीगुम्फ शिलालेख : हिन्दी अनुवाद सहित, पंक्ति १२, प्रो० खुशालचन्द गोरावाला, कलिंगाधिपति खारवेल, जैनसिद्धान्तभास्कर : भाग १६, किरण २, दिसम्बर १९४९, पृ० १३४।

२. कामताप्रसाद जैन, भारतीय इतिहासमें जैन काल : हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २९३।

३. पं० कैलाशचन्द्र, जैनकला और पुरातत्त्व : 'जैनधर्म', चौरासी, मथुरा, १९५५ ई०, पृष्ठ २५९।

४. वी. ए. स्मिथ, दि. जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज ऑव मथुरा : प्रस्तावना, पृष्ठ ३।

५. जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भिता-
वमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणः
विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः॥
संस्कृत चैत्यभक्ति : दशभक्त्यादि-संग्रह : श्लोक १, पृ० २२६।

आचार्य कुन्दकुन्दके बोधप्राभृतकी ९वीं गाथाकी व्याख्या करते हुए, पं० जयचन्द छाबड़ाने लिखा है, "चैत्य-भक्तिसे सातिशय पुण्य बन्ध होता है, जो क्रमशः मोक्षका कारण बनता है।"[1] आचार्य पूज्यपादने भी कृत्रिम और अकृत्रिम सभी चैत्यालयोंकी 'भूयांसि भूतये' वन्दना की है[2]। चैत्यालयोंकी स्तुति करते हुए उन्होंने लिखा है, "तीन लोकोंमें, तीर्थंकर परमदेवके जितने भी चैत्यालय हैं, उन सबको मैं, संसारकी दुःखरूपी अग्निको शान्त करनेके लिए नमस्कार करता हूं।"[3] उन्होंने भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रदीप्त प्रतिमाओंको भी अञ्जलिबद्ध होकर नमस्कार किया है।[4]

'चेइयवंदणमहाभासं'में श्रीमच्छान्तिसूरिने लिखा है कि जिन-प्रतिमाओंके सम्मुख प्रणिपात करते हुए सिद्धोंको इस प्रकार नमस्कार करना चाहिए, "जो सिद्ध हो चुके हैं, आगे होंगे और अभी वर्तमान हैं, उन सबकी त्रिविधि वन्दना करता हूँ।"[5]

श्री कीर्तिरत्नसूरिने 'गिरिनारचैत्यपरिपाटी-स्तवन' में लिखा है, "जिस ऊर्जयन्त पर्वतके अपापाख्य मठमें विराजमान बहुत प्राचीन प्रतिमाओंको प्रणाम करने मात्रसे ही, मनुष्योंके पाप दूर हो जाते हैं, उस ऊर्जयन्तगिरिको मैं वन्दना

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, बोधपाहुड : अष्टपाहुड : गाथा ९ का पं० जयचन्द-छाबड़ा कृत हिन्दी अनुवाद।

२. यावन्ति सन्ति लोकेऽस्मिन्नकृतानि कृतानि च।
तानि सर्वाणि चैत्यानि वन्दे भूयांसि भूतये॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत चैत्यभक्ति : दशभक्त्यादिसंग्रह : श्लोक १, पृ० २३३।

३. भुवनत्रयेऽपि भुवनत्रयाधिपाभ्यर्च्यतीर्थकर्तृणाम्।
वन्दे भवाग्निशान्त्यै विभवानामलयालीस्ताः॥
देखिए, वही : श्लोक ९, पृ० २३०।

४. द्युतिमण्डल-भासुराङ्गयष्टीः प्रतिमा अप्रतिमा जिनोत्तमानाम्।
भुवनेषु विभूतये प्रवृत्ता वपुषा प्रांजलिरस्मि वन्दमानः॥
देखिए, वही : श्लो० १२, पृ० २३१।

५. जे अईआ सिद्धा जे अ भविस्संतिऽणागए काले।
सम्पइ अं वट्टमाणा सव्वे तिविहेण वन्दामि॥
एयाए भावत्थं, सुगमं सम्मं मणम्मि भावेंतो।
मण-वयण-कायसारं, करेज्ज पंचंगपणिवायं॥
श्रीमच्छान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभासं : गाथा २६३, पृष्ठ ६५।

करता हूँ।"[१] इसी पर्वतके जिनेन्द्र-बिम्बोंसे व्याप्त देवकुल्य देवालय, अर्चकोंको सदैव प्रसाद बाँटा करते हैं।[२] अर्थात् वे जिनेन्द्र-बिम्ब अर्चकोंको मनोनीत वरदान प्रदान करते हैं।

श्री देवेन्द्रसूरिने अपने 'शाश्वत चैत्य-स्तव' में त्रिलोकके अकृत्रिम चैत्यालय और उनमें विराजित जिन-बिम्बोंकी संख्या दी है, और अन्तकी गाथामें सबको ही नमस्कार किया है।[३] देवेन्द्रसूरिके शिष्य श्री धर्मघोषसूरिने 'चतुर्विंशतिस्तुति' में लिखा है, "श्रीमन्नन्दीश्वरद्वीपके बावन चैत्यालयोंमें ऐसी अद्वितीय प्रतिमाएँ हैं, जिनके सम्मुख अच्युत सदैव प्रणत होते रहते हैं और जिनकी इन्द्र स्तुति करते हैं।"[४]

श्री मदनकीर्तिने विन्ध्यगिरिके पुराने जिनालयोंकी वन्दना करते हुए लिखा है, "विन्ध्यगिरिपर अगणित जिन-मन्दिर विद्यमान हैं, जिनकी इन्द्र भी पूजा करते हैं। उनकी भक्ति करनेवाले सम्यग्दृष्टि मनुष्योंको, वे आज भी प्रत्यक्षकी भाँति प्रतिभासित होते हैं।"[५]

---

१. यस्मिन्नपापाख्यमठे प्रभूताश्चिरन्तनीश्च प्रतिमाः प्रणम्य।
छिन्दन्ति पापानि निजानि लोका वन्दे सदा तं गिरिमुज्जयन्तम्॥
श्री रत्नकीर्तिसूरि, गिरिनारचैत्यपरिपाटी-स्तवन : जैनस्तोत्रसमुच्चय : बम्बई, श्लो० ८, पृ० २५५।

२. श्रीमूलदेवालयदेवकुल्यो जिनेन्द्रबिम्बैः परितः परीताः।
यत्रार्चकेभ्यो ददते प्रसादं वन्दे सदा तं गिरिमुजयन्तम्॥
देखिए वही : श्लोक ९, पृ० २५५।

३. सिरिभरहनिवइपमुहेहि जाइं अन्नाइं इत्थ विहिआइं।
देविन्दमुणिन्द थुआइं दिन्तु भवियाण सिद्धिसुहं॥
श्री देवेन्द्रसूरि, शाश्वतचैत्यस्तवः, जैनस्तोत्रसन्दोह : प्रथम भाग, अहमदाबाद, १९३२ ई०, पद्य २४, पृ० १०५।

४. श्रीमन्नन्दीश्वरद्वीपेऽप्रतिमाः प्रणुताऽच्युताः।
द्विपञ्चाशति चैत्येपु प्रतिमाः प्रणुताऽच्युताः॥
श्री धर्मघोष सूरि, चतुर्विंशतिजिनस्तुतयः, जैनस्तोत्रसन्दोह : प्रथम भाग, अहमदाबाद, १९३२ ई०, पद्य ३३, पृ० २५४।

५. यस्मिन् भूरि विधातुरेकमनसो भक्तिं नरस्याऽधुना
तत्कालं जगतां त्रयेऽपि विदिता जैनेन्द्रबिम्बालयाः।
प्रत्यक्षा इव भान्ति निर्मलदृशो देवेश्वराऽभ्यर्चिता
विन्ध्ये भूरुहि भासुरेऽतिमहिते दिग्वाससां शासनम्॥
श्रीमदनकीर्ति, शासनचतुस्त्रिंशिका : श्लोक ३२, पृष्ठ २३।

: ४ :

आराध्य देवियाँ

(१) देवी पद्मावती

देवी पद्मावतीने भगवान् पार्श्वनाथके समयमें जिन-शासनकी अत्यधिक उन्नति की थी, इसलिए उसे तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथकी शासनदेवी अथवा शासन-सुन्दरी कहा जाता है।[1] पद्मावतीके पति धरणेन्द्रने कमठके भीषणतम उपसर्गसे भगवान् पार्श्वनाथकी रक्षा की थी, अतः गुणोंके संग्रहमें दक्ष और जिनशासनकी रक्षामें निपुण होनेके कारण उन्हें 'यक्ष' संज्ञासे अभिहित किया गया है।[2] दम्पतिके सम्बन्धसे पद्मावती भी यक्षिणी कहलाती हैं। इनका व्यन्तरदेवोंकी अवान्तर जाति यक्षसे कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यन्तरदेवोंका चिह्न वातवृक्ष-ध्वज होता है,[3] जब कि धरणेन्द्र और पद्मावती नाग-चिह्नको धारण करनेवाले थे।[4] वे भवनवासी देवोंकी दूसरी उपजाति नागकुमारोंके दक्षिणी भागके राजा-रानी कहलाते हैं।

पूर्व जन्ममें धरणेन्द्र और पद्मावती साधारण नाग-नागिन थे। एक वैदिक याज्ञिकके द्वारा उनकी आहुति दी ही जानेवाली थी कि युवराज पार्श्वनाथने ठीक समयपर पहुँचकर उनकी रक्षा की। फिर भी वे बहुत कुछ झुलस चुके थे। उनके मृत्यु समय पार्श्वनाथने णमोकार मन्त्र सुनाया, जिसके प्रभावसे वे मरकर भवनवासी युगलके रूपमें उत्पन्न हुए।[5] तपस्वी पार्श्वनाथपर कमठके उपसर्गकी बात जानकर दोनों ही आये, और अपना मणिमयी फण तानकर पाहनवर्षासे उनकी रक्षा की।[6] दोनों ही भगवान् 'जिन'के परम भक्त थे।

---

१. "पद्मावतीजिनमतस्थितिमुन्नयन्ती तेनैव तत्सदसि शासनदेवताऽऽसीत्।" श्रीमद्वादिराजसूरि, श्रीपार्श्वनाथचरित्र : १२।४२, पृ० ४१५।

२. "तस्याः पतिस्तु गुणसंग्रहदक्षचेता यक्षो बभूव जिनशासनरक्षणज्ञः" वही : १२।४२, पृ० ४१५।

३. तत्त्वार्थभाष्य : ४।१२, पृ० २८४।

४. तत्त्वार्थभाष्य : ४।११, पृ० २८२।

५. भावदेवसूरि, पार्श्वनाथचरित्र : ६।५०–६८।

६. गुणभद्र, उत्तरपुराण : ७३।१३९–४०।

पद्मावतीकी रूपरेखा

देवी पद्मावतीके चार हाथ होते हैं, जिनमें-से सीधी ओरका एक हाथ वरद-मुद्रामें उठा रहता है और दूसरेमें अंकुश होता है। बायीं ओरके एक हाथमें दिव्यफल और दूसरेमें पाश रहता है।[1] अंकुश और पाशमें-से अग्निज्वालाएँ निकलती रहती हैं।[2] देवीके तीन नेत्र होते हैं, तीसरा नेत्र क्रोधके समय ही खुलता है और उसमें-से विकराल स्फुलिंग निकलने लगते हैं।[3] देवीके सिरपर तीन फणोंवाले नागका मुकुट सुशोभित होता है।[4] अभिधान-चिन्तामणिमें पाँच फणोंका उल्लेख है।[5] देवीका वाहन कर्कुट नाग है, जिसके विषकी एक बूँदमें समूचे विश्वको समाप्त करनेकी शक्ति है।[6] देवीके दो रूप हैं—रौद्र और सौम्य। पहलेसे अत्याचारियोंका नाश होता है और दूसरेसे संसारका कल्याण। महान् शक्तियोंमें कठोरता और कोमलता, विरूपता और सुन्दरता तथा दण्ड और वरदानका समन्वय होता ही है। सौम्य-मुद्रामें आनेपर देवीके शरीरसे प्रातःके सूर्यकी आभा फूटने लगती है, चेहरा प्रसन्न हो जाता है, और हाथ-पैरोंसे कमल-की-सी सुगन्धि निकलने लगती है।[7]

पद्मावतीके पर्य्यायवाची नाम

नयविमलसूरि (११वीं शती) के 'संखेश्वरपार्श्वनाथस्तवनम्' के दसवें श्लोकमें पद्मावतीको सरस्वती, दुर्गा, तारा, शक्ति, अदिति, लक्ष्मी, काली, त्रिपुर-सुन्दरी, भैरवी, अम्बिका और कुण्डलिनी कहा गया है।[8] भैरव पद्मावती

---

१. मल्लिषेणसूरि, भैरवपद्मावतीकल्प : सूरत, २।१२।
२. "व्याघ्रोरोल्का सहस्रज्वलदनलशिखा लोलपाशाङ्कुशाढ्ये।"
पद्मावती-स्तोत्र : पहला श्लोक, भैरवपद्मावतीकल्प : सूरत, पृ० ७८।
३. देखिए, वही : २।१२ व २।२।
४. देखिए, मूड़विद्रीके दिगम्बर जैन मन्दिरमें प्रतिष्ठित श्री पद्मावती देवीकी मूर्त्ति।
५. हेमचन्द्राचार्य, अभिधानचिन्तामणि : भावनगर, २४४१ वी० नि० सं०, पृ० ४३।
६. भावदेवसूरि, पार्श्वनाथचरित्र : ७।७२८।
७. मल्लिषेणसूरि, भैरवपद्मावतीकल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, श्लोक २–८, पृ० २६, २७।
८. नयविमलसूरि, संखेश्वरपार्श्वनाथ-स्तवनम् : शारलटक्राउजेके जैन एंशियण्ट हिम्समें निबद्ध, १०वाँ श्लोक।

कल्पमें पद्मावती देवीको तोतला, त्वरिता, नित्या, त्रिपुरा, काम साधनी और त्रिपुरभैरवी कहा गया है।[1] पद्मावती-सहस्रनाममें पद्मावती, महाज्योति, जिन-माता, वज्रहस्ता, कामदा, सरस्वती, भुवनेश्वरी, लीलावती, त्रिनेत्रा और चक्रेश्वरी-जैसे दस नामोंके आधारपर दस शतकोंकी रचना हुई है।[2] पद्मावती-स्तोत्रमें एक स्थानपर लिखा है कि—जो सुगतागममें तारा, शैवागममें भगवती गौरी, कौलिक-शासनमें वज्रा और सांख्यागममें प्रकृति है, वही जैनशासनमें पद्मावतीके नामसे प्रसिद्ध है।[3] कहीं-कहीं इस देवीको काली-कराली, चण्डी और चामुण्डी जैसे नामोंसे भी अभिहित किया गया है।[4]

पद्मावतीके विषयमें जैन-पुरातत्त्वकी साक्षी मूर्तियाँ

जैन-पुरातत्त्वमें अम्बिका और पद्मावतीका विशेष नाम है। प्राचीनकालमें अम्बिकाकी और मध्यकालमें पद्मावतीकी अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ पायी जाती हैं। पद्मावतीकी एक प्राचीनकालीन मूर्ति भुवनेश्वरकी खण्डगिरिकी गुफामें मिली है। इस गुफाके दूसरे भागमें चौबीस तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ हैं और उनके नीचे २४ औरतोंकी, जो उनकी शासन-देवियाँ हैं। इसमें चार हाथवाली यक्षिणी पद्मावती भी है।[5]

श्रवणबेल्गोल नगरमें अक्कनबस्ति नामका एक सुन्दर मन्दिर है, जिसका निर्माण शक संवत् ११०३ में हुआ था, इसके गर्भगृहमें भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्त्ति है और दरवाजेके पास सुखनासिमें साढ़े तीन फुट ऊँची धरणेन्द्र और पद्मावतीकी

---

१. भैरवपद्मावतीकल्प : सूरत, १।३, पृ० २।

२. यह सहस्रनाम, भैरव पद्मावतीकल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट ८, पृ० ४७–५५ पर निबद्ध है।

३. तारा त्वं सुगतागमे, भगवती गौरीति शैवागमे।
वज्रा कौलिकशासने जिनमते, पद्मावती विश्रुता॥
गायत्री श्रुति शालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि सांख्यागमे।
मातर्भारति! किं प्रभूतभणितैर्व्याप्तं समस्तं त्वया॥
पद्मावतीस्तोत्र : २०वाँ श्लोक, भैरवपद्मावतीकल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृ० २८।

४. देखिए वही : चौथा श्लोक।

५. J. N. Banerjea, Jainism, Jain Iconography, Classical age,' Vol. III, Edited by R.C. Majumdar, Bhartiya Vidya-Bhawan, Bambay, p. 414,

मूर्त्तियाँ एक दूसरेके सामने खड़ी हैं।[1]

चन्द्रगिरि पर्वतपर 'कत्तले वस्ति' नामका एक मन्दिर है। कोई खिड़की आदि न होनेसे इसमें अँधेरा अधिक रहता है, इसीलिए इसे अन्धकारका मन्दिर (कत्तलेवस्ति) कहते हैं। इसका निर्माण मंत्री गंगराजने अपनी माता पोचव्वेके लिए सन् १११८में करवाया था। इसके बरामदेमें पद्मावती देवीकी मूर्त्ति है। जान पड़ता है इसीसे इसका नाम 'पद्मावती वस्ति' पड़ गया है।[2]

नालन्दा (पास) के जैन-मन्दिरमें प्रवेश करते ही, दाहिनी ओरके एक आलेमें, लगभग डेढ़ फुटकी एक सप्तफणी पार्श्वनाथकी प्रतिमा अवस्थित है। उभय पार्श्वमें चमरधारी पार्श्वद् खड़े हैं और निम्न भागमें चतुर्भुजी देवी पद्मावतीकी मूर्त्ति है।[3] पूनामें श्री आदीश्वरका मन्दिर है, इसमें पाँच मूर्तियाँ विराजमान हैं। मुख्य मूर्त्ति श्री आदीश्वर भगवान्की है। इसी मन्दिरमें एक मूर्ति श्री पद्मावती देवीकी भी है, जो फूलों और सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित है।[4] नागपुरके श्री दिगम्बर जैन केवीबाग़-मन्दिरमें पद्मावती देवीकी एक काले पाषाणकी मूर्ति है, इसपर किसी भाँतिका कोई लेख और चिह्न नहीं है।[5] वर्धा ज़िलेके सिन्धी ग्राममें, दिगम्बर जैनमन्दिरमें, एक अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण पद्मावतीकी खड़ी प्रतिमा भूरे पत्थरपर उत्कीर्ण है।[6]

जैन वाङ्मयमें देवी पद्मावती

चौदह पूर्वोंमें एक विद्यानुवाद नामका पूर्व भी था, जिसका टूटा-फूटा रूप विद्यानुशासन ग्रन्थमें पाया जाता है। इसके रचयिता मुनि सुकुमारसेन (लगभग ८वीं शती वि० सं०) हैं। इस ग्रन्थमें चार कल्प हैं, जिनमें सबसे पहला 'भैरवपद्मावतीकल्प' है। इसमें धरणेन्द्र और पद्मावतीको मन्त्रके अधिष्ठातृ देवताके रूपमें स्वीकार किया गया है। श्री भद्रबाहु स्वामीके 'उवसग्गहर-

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह : प्रथम भाग, शिलालेख नं० १२४।३२७, भूमिका पृ० ४३-४४।

२. देखिए वही : भूमिका, पृ० ५-६।

३. मुनि कान्तिसागर, खोजकी पगडण्डियाँ : पृ० १९९।

४. Jain Antiquary, Vol. XVI. No. I, June 1950, p. 20.

५. जैनसिद्धान्तभास्कर : भाग २०, किरण २, दिस० १९५३, पृ० ५१।

६. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : पृ०४०, पादटिप्पण १।

स्तोत्त' का प्रारम्भ भगवान् पार्श्वनाथ और पार्श्वयक्षकी स्तुतिसे हुआ है। इस स्तोत्रकी वृत्तिसे स्पष्ट है कि धरणेन्द्र और पद्मावतीकी सहायतासे ही श्री भद्रबाहु स्वामीका संघ एक व्यन्तरके घोर उपसर्गसे बच सका था।[१] यह स्तोत्र धरणेन्द्र और पद्मावतीकी भक्तिका द्योतक है। भद्रबाहु स्वामी भगवान् महावीरके १७० वर्ष बाद, अर्थात् विक्रमसे ३०० वर्ष पूर्व हुए हैं।[२] भगवती सूत्रके पृष्ठ २११ पर भी पद्मावतीका उल्लेख है। श्री पादलिप्तसूरिकी निर्वाणकलिका—पृ० ३४ और श्री यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ति प्रथम भाग (४।९३६) में भी देवी पद्मावतीके उद्धरण उपलब्ध होते हैं। निर्वाणकलिका ईसाकी तीसरी शताब्दीका ग्रन्थ है[३] और तिलोयपण्णत्ति विक्रमकी छठी शताब्दीका।[४]

विक्रमकी ९वीं शताब्दीके भगवज्जिनसेनाचार्यने 'पार्श्वाभ्युदय' का निर्माण किया था। इसमें धरणेन्द्र और पद्मावतीका वर्णन है। श्री वादिराजसूरिने वि० सं० १०८२ में पार्श्वनाथचरित्रकी रचना की थी। इसमें कमठवाली कथाका सन्निवेश हुआ है। धरणेन्द्र और पद्मावतीका पूरा वर्णन है। श्वेताम्बर आचार्य भावदेवसूरि[५]का भी एक पार्श्वनाथचरित्र है,[६] जिसमें यथास्थान पद्मावती और धरणेन्द्रका जीवन निबद्ध है।

मल्लिषेणसूरि (११वीं शतीका अन्त और १२वींका आरम्भ) ने भैरव-पद्मावती कल्पकी रचना की थी, जो देवी पद्मावतीसे सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

---

१. भद्रबाहु स्वामी, उवसग्गहरस्तोत्त : जैनस्तोत्रसन्दोह : द्वितीय भाग, पृ० १–१३।

और

Dr. Jagdish Chandra Jain, Life in Ancient India, As depicted in Jain Canons. p. 226. उन्होंने यह उद्धरण गच्छाचार वृत्ति : पृ० ९३–९६ से लिया है।

२. जैनस्तोत्रसन्दोह : द्वितीय भाग, भूमिका, पृ० ४–५।

३. फतेहचन्द बेलानी, जैनग्रन्थ और ग्रन्थकार : जैनसंस्कृति-संशोधन-मण्डल, बनारस, पृ० २।

४. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पुरातन-जैनवाक्य-सूची : सरसावा, भूमिका, पृ० ३४।

५. डॉ० विण्टरनित्सके अनुसार श्री भावदेवसूरि १२५५ ई० में हुए हैं। देखिए—History of Indian Literature, Vol. II. p. 512–13.

६. यह ग्रन्थ श्री हरगोविन्द दास और पं० बेचरदास-द्वारा संपादित होकर बनारससे सन् १९१२ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

है। इस ग्रन्थके दस अध्यायोंमें चार-सौ श्लोक निबद्ध हुए हैं। वैसे तो समूचे ग्रन्थमें देवी पद्मावतीका वर्णन है, किन्तु मुख्यरूपसे तीसरा अध्याय देवी आराधनाके नामसे गूँथा गया है। इस ग्रन्थका प्रकाशन अहमदाबाद और सूरतसे हो चुका है। अहमदाबादके भैरव-पद्मावती-कल्पके परिशिष्टमें अद्भुत पद्मावती-कल्प, पद्मावतीपूजन और रक्तपद्मावतीकल्प आदिका भी उल्लेख हुआ है।

जिनप्रभसूरि (१४वींशतीवि० सं०) के विविधतीर्थकल्पमें, पद्मावती-कल्प भी निबद्ध हुआ है। इसमें देवीके चमत्कारोंकी कथा है।[१] उन्होंने 'पद्मावती-चतुष्पदी' नामका एक प्राकृत-काव्य भी रचा था, जिसमें ४६ गाथाएँ हैं।[२] मुनिवंशाभ्युदय कन्नड़ी भाषाका एक ऐतिहासिक काव्य है। इस ग्रन्थमें पाँच सन्धियाँ हैं। पाँचवीं सन्धिमें देवी पद्मावतीका वर्णन है। देवी पद्मावतीकी सहायतासे देवनन्दी व्रतीने रसायन आदि अनेक विद्याओंकी सिद्धि प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त श्री माणिक्यचन्द्र (१२१७ ई०), सकलकीर्त्ति (१५वीं शती), पद्मसुन्दर (१५६५ ई०) और उदयवीरगणिके द्वारा लिखे गये पार्श्वनाथचरित्रों-में भी कमठकी कथा और धरणेन्द्र तथा पद्मावतीकी भक्तिका उल्लेख है।

ब्रह्मचारी नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोष और देवचन्द्रकृत राजावलिकथे-में लिखा है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दीमें होनेवाले श्री भट्टाकलंकका विवाद बौद्धाचार्योंके साथ वि० सं० ७०० में हुआ था, जिसमें उन्होंने पद्मावती देवीके द्वारा बताये गये उपायसे ही बौद्धोंकी तारादेवीको पराजित किया। राजावलिकथे कन्नड़ीका प्रामाणिक ग्रन्थ है, श्रीरायस महोदयने उसका अँगरेज़ी अनुवाद किया है। आराधनाकथाकोषके आधारपर यह भी विदित हुआ है कि आचार्य पात्र-केसरी (वि० सं० छठी शताब्दी) की शंकाका समाधान श्री पद्मावती देवीने ही किया था। यह बात श्री वादिराज सूरिके न्यायविनिश्चयालंकारसे भी प्रमाणित होती है।[३] इस घटनाका समर्थन श्रवणवेलगोलके शिलालेख नं० ५४ से भी होता है। उसपर खुदा है—"देवी पद्मावती सीमन्धर स्वामीके समवशरणमें गयी, और

---

१. जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प : सिंघी जैन ग्रन्थमाला, वि० सं० १९९०, पृ० ९८–९९।

२. H. D. Velankar, Jina Ratna Kosa, Vol. I, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1944, p. 235.

३. "महिमासपात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत् पद्मावती सहाया-त्रिलक्षणं कदर्थनं कर्त्तुम्।"—न्यायविनिश्चयालंकार।

गणधरके प्रसादसे एक ऐसा श्लोक लायी, जो 'त्रिलक्षण' के कदर्थनका मूलाधार बना।"[1] वि. सं. १६०८ में पं० जिनदासने होलीरेणुका-चरितकी रचना की थी, जिसकी प्रशस्तिसे विदित होता है कि उसके पूर्वज हरिपतिको देवी पद्मावतीका वर प्राप्त था।[2]

देवी पद्मावती-सम्बन्धी स्तोत्र-साहित्य भी विपुल है। जैनस्तोत्र-सन्दोहके 'घ' परिशिष्टमें एक 'पद्मावत्यष्टक' निबद्ध है,[3] जिसकी वृत्ति श्री पार्श्वदेवगणिने रची है। पार्श्वदेवगणिका समय वि. सं. ११७१ माना जाता है।[4] सूरतवाले भैरव-पद्मावती-कल्पके पृष्ठ ९९-११२ तक 'पद्मावती सहस्रनाम-स्तोत्र' दिया है। इसमें देवी पद्मावतीकी १००८ नामोंसे स्तुति की गयी है। इसके उपरान्त वहाँपर ही पृष्ठ ११४ पर पद्मावती-कवच, पृष्ठ ११५ पर पद्मावती-स्तोत्र, पृष्ठ ११७ पर पद्मावतीदण्डक-स्तोत्र, पृष्ठ ११८ पर पद्मावती-स्तुति और पृष्ठ १२१ से १२७ तक यन्त्र-मन्त्रगर्भित पद्मावती-स्तोत्र दिया गया है। यह अन्तिम स्तोत्र ३५ संस्कृत श्लोकोंमें समाप्त हुआ है। 'भैरव-पद्मावती-कल्प'में दिये गये इन विभिन्न स्तुति-स्तोत्रोंके विषयमें श्री. एम. के. कापड़ियाने लिखा है, "इस ग्रन्थके साथमें हमने विचार किया कि पद्मावती-सहस्रनाम, स्तोत्र, छन्द, पूजा आदि रख दिये जायें तो क्या ही अच्छा हो, अतः हमने सूरतके जूनेमन्दिर, गुजरातीमन्दिर व मेवाड़ा मन्दिरोंसे ऐसे हस्तलिखित शास्त्र प्राप्त किये।"[5]

भगवान् पार्श्वनाथ-सम्बन्धी अतिशय तीर्थक्षेत्रोंके उद्भवमें देवी पद्मावतीका ही हाथ रहा है। श्रीपुरके पार्श्वनाथका लोक-विश्रुत प्रभाव श्री पद्मावती देवीके ही कारण हो सका, ऐसा श्रीपुर-अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ-कल्पसे स्पष्ट है।[6] श्रीमती शारलट क्राउजेने 'एन्शियण्ट जैन हिम्स' में 'संखेश्वरपार्श्वनाथ-स्तवन' को संकलित किया है। इस स्तवनके मूल लेखक श्री नयविमलसूरि हैं। इसके ९वें

---

१. जैन शिलालेख संग्रह : प्रथम भाग, पृष्ठ १०१।
२. पूर्वं हरिपतिर्नाम्ना लब्ध-पद्मावती-वरः।
पेरोसाहि नरेन्द्राप्त-सत्पण्डितपदोऽप्यभूत् ॥
होलीरेणुकाचरित-प्रशस्ति : अन्त भाग, जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह : वीरसेवा-मन्दिर, दिल्ली, श्लोक २९, पृ ६४।
३. जैनस्तोत्र सन्दोह : प्रथम भाग, परिशिष्ट, पृ० ७७।
४. देखिए वही : प्रस्तावना, पृ० ३०।
५. भैरव-पद्मावती-कल्प : सूरत, निवेदन, पृ० ५।
६. जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प : पृ० १०२।

और दसवें श्लोकमें क्रमशः, धरणेन्द्र और पद्मावतीकी स्तुति की गयी है। दसवें श्लोककी आलोचना करते हुए श्रीमती क्राउजेने लिखा है, "दसवाँ श्लोक देवी पद्मावतीके मन्त्रकी महत्ताको उद्घोषित करता है। पद्मावती भगवान् पार्श्वनाथकी शासनदेवी है, जिसकी अत्यधिक पूजा-अर्चना की गयी है।[1] 'जैनस्तोत्र-समुच्चय'-के पृष्ठ ४७ पर घोघामण्डन-पार्श्वजिनका ९वाँ श्लोक और पृष्ठ ५७ पर पार्श्वजिन-स्तवनका पन्द्रहवाँ श्लोक पद्मावतीकी भक्तिमें ही रचे गये हैं।

देवी पद्मावतीको सिद्ध करनेवाले मंत्र

यद्यपि मंत्रसे अन्य जैन देवियोंका भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है, किन्तु पद्मावती ही उनकी अधिष्ठात्री देवी है। उसे सिद्ध करनेके लिए विविध मन्त्रोंकी रचना हुई है। "ॐ ह्रीं ह्रैं ह क्लीं पद्मे पद्मकटिनि नमः"[2] को लाल कमल अथवा लाल कनेरके फूलोंपर तीन लाख वार जपनेसे देवी सिद्ध हो जाती है।[3] देवीका षडक्षरी मन्त्र "ॐ ह्रीं ह्रैं ह क्लीं श्रीं पद्मे नमः", त्र्यक्षरी मन्त्र—"ॐ ऐं क्लीं ह्सौं नमः" और एकाक्षर मन्त्र—"ॐ ह्रीं नमः" है।[4] ह्रीं में 'ह' भगवान् पार्श्वनाथका, 'र' धरणेन्द्रका और 'ई' पद्मावतीका द्योतक है।[5] होमकी विधि बताते हुए आचार्यने लिखा है, "एक ताम्र-पत्रपर नामको ह्रीं से वेष्टित करके उसके चारों ओर कामदेवके पाँच वाण "द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः" को लिखकर बाहर ह्रींसे वेष्टित करे। इस यंत्रको त्रिकोण होमकुण्डमें गाड़ दे। घी, दूध और शक्करमें मिलाकर बनायी हुई तीस सहस्र गोलियोंकी आहुतिसे पद्मावती देवी सिद्ध होती है।"[6] पहले मन्त्रके अन्तमें 'नमः' लगाकर देवीका जप करे, समाप्तिपर मन्त्रके अन्तमें 'स्वाहा' लगाकर होम करे। यह सिद्धिकी विधि है।[7] देवी पद्मावतीको सिद्ध करनेके अन्य चार शक्तिशाली मन्त्र भैरव-पद्मावती-कल्प

---

१. देखिए 'Ancient Jaina Hymns; remarks on the texts, p. 49.
२. भैरव-पद्मावती-कल्प : सूरत, ३।३०, पृ० २०।
३. वही : ३।३१, पृ० २०।
४. देखिए वही : ३।३२, ३३, ३४, पृष्ठ २०, २१।
५. देखिए वही : ३।३४, पृ० २१।
६. देखिए वही : ३।३६, ३७, पृष्ठ २१, २२।
७. मन्त्रस्यान्ते नमश्शब्दं देवताऽऽराधनाविधौ।
तदन्ते होमकाले तु स्वाहा शब्दं नियोजयेत् ॥
वही : ३।३८, पृ० २२।

(सूरत) के पृष्ठ १५ से १८ तकके मध्य दिये हुए हैं, उनमें कमलके बाहर चार दिशाओंमें जो मन्त्र लिखे जाते हैं, वे इस प्रकार हैं :

पूर्व—ॐ ह्रीं क्षां पद्मावतीदेव्यै नमः ।
दक्षिण—ॐ ह्रीं क्षीं पद्मावतीदेव्यै नमः ।
पश्चिम—ॐ ह्रीं क्षूं पद्मावतीदेव्यै नमः ।
उत्तर—ॐ ह्रीं क्षैं पद्मावतीदेव्यै नमः ।[1]

देवी पद्मावतीकी भक्तिसे सम्बन्धित कतिपय उद्धरण

श्रीमद्गीर्वाणचक्रस्फुटमुकुटतटी दिव्यमाणिक्यमाला—
ज्योतिर्ज्वाला कराला स्फुरितमुकुरिका घृष्टपादारविन्दे ! ।
व्याघ्रोरोल्कासहस्रज्वलदनलशिखालोलपाशाङ्कुशाढ्ये !
ॐ क्रौं ह्रीं मन्त्ररूपे ! क्षपितकलिमले ! रक्ष मां देवि ! पद्मे । ॥१॥[2]

बड़े-बड़े श्रीमानोंके मणिजटित किरीट—जिनमेंसे भयंकर ज्वाला फूटती है—देवी पद्मावतीके पादारविन्दोंमें सदैव झुकते हैं, और इस भाँति देवीके चरणोंके लिए दर्पणका काम करते हैं । देवी सहस्रों ज्वालाओंसे प्रज्वलित अङ्कुश और पाशको धारण करती है । वह देवी कलियुगके मैलको नष्ट करनेवाली तथा ॐ, क्रौं, ह्रीं जैसे मन्त्रको साक्षात् करनेवाली है । भक्त उस देवीसे रक्षा करनेकी याचना करता है ।

दिव्यं स्तोत्रं पवित्रं पटुतरपठतां भक्तिपूर्वं त्रिसन्ध्यं
लक्ष्मीं सौभाग्यरूपं दलितकलिमलं मङ्गलं मङ्गलानाम् ।
पूज्यां कल्याणमालां जनयति सततं पार्श्वनाथप्रसादात्
देवी पद्मावती नः प्रहसितवदना या स्तुता दानवेन्द्रैः ॥२६॥[3]

देवीके दिव्य और पवित्र स्तोत्रको तीनों संध्याओंमें भक्तिपूर्वक पढ़नेवाले व्यक्तिके सौभाग्यरूप लक्ष्मी उदित होती है, कलियुगके दोष दूर हो जाते हैं और सर्वोत्कृष्ट मङ्गल प्राप्त होता है । दानवेन्द्रोंके द्वारा स्तुता और प्रसन्नमुख रहनेवाली देवी पद्मावती, भगवान् पार्श्वनाथके प्रसादसे कल्याणोंको प्रदान करती है ।

---

१. देखिए वही : पृष्ठ १७, १८ ।
२. पद्मावती-स्तोत्र : भैरव-पद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृ० २६ ।
३. पद्मावती-स्तोत्र : भैरव-पद्मावती-कल्प : सूरत, पृ० १२६ ।

या देवी त्रिपुरा पुरत्रयशीघ्रं सुसिद्धिप्रदा
या देवी सहसा समस्तभुवने संगीयते कामदा।
तारा या रिपुमर्दिनी भगवती देवी च पद्मावती
तां त्वां सर्वगतां स्तुवन्ति विबुधा हे देवि! तुभ्यं नमः ॥२७॥[1]

जो त्रिपुरा देवी तीनों लोकोंको सिद्धि प्रदान करनेवाली है, जो देवी समस्त लोककी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाली है, जो ताराके मानका मर्दन करनेवाली है, सर्वगत है, विबुधोंसे स्तुत है, ऐसी हे देवी पद्मावती! तुम्हें नमस्कार हो।

राजद्वारे श्मशाने च भूतप्रेतोपचारके।
बन्धने च महादुःखे भयशत्रुसमागमे ॥९॥
स्मरणात् कवचं शस्यं भयं किञ्चिन्न जायते
प्रयोगमुपचारं च पद्मायाः कर्तुमिच्छति ॥१०॥[2]

राजद्वारमें, श्मशानमें, भूत-प्रेतके उपचारमें, महादुःखमें, शत्रु-समागमके अवसरपर श्री पद्मावती देवीके कवचका स्मरण करनेसे कोई भय नहीं रह जाता है।

लक्ष्मी सौभाग्यकरा जगत्सुखकरा वन्ध्यापि पुत्रार्थिता
नानारोगविनाशिनी अघहरा (त्रि) कृपाजने रक्षिका।
रङ्कानां धनदायिका सुफलदा वाञ्छार्थिचिन्तामणिः
त्रैलोक्याधिपतिर्भवार्णवत्राता पद्मावती पातु वः ॥१२॥[3]

देवी पद्मावती लक्ष्मी प्रदान करनेवाली, संसारको सुख देनेवाली, वन्ध्याको भी पुत्र अर्पण करनेवाली और भक्तोंको रक्षा करनेवाली है। वह रंकोंको धन देती है और इच्छार्थियोंके लिए तो चिन्तामणिके समान है। संसार-समुद्रसे रक्षा करनेमें वह ही समर्थ है। ऐसी देवी पद्मावती हमारी रक्षा करे।

श्री श्रीधराचार्यका 'पद्मावती-स्तोत्र' १० पद्योंमें पूर्ण हुआ है। उसके कतिपय पद्य देखिए—

देवी त्वं ध्यायिता इन्द्रे पूजिता शिवशंकरे।
कृष्णेन संस्तुता देवी महापद्मे नमो नमः ॥

---

१. देखिए वही : पृ० १२६।
२. पद्मावतीकवच : भैरव-पद्मावती-कल्प : सूरत, पृ० ११५।
३. पद्मावती-दण्डक : भैरव-पद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृ० ३६।

सावित्री पतिमाराध्य वासुकैः सेविता भृशम् ।
तेषां संतुक्षते देवी महापद्मे नमो नमः ॥
यस्यां प्रसन्नतां पद्मे तस्यां दारिद्र्यनाशने ।
जय त्वं सुखदाता च महापद्मे नमो नमः ॥
देवि ! दारिद्र्यदग्धाहं तन्मे शं शंकरी भव ।
चिन्तिता वरदाता च महापद्मे नमो नमः ॥[1]

२. देवी अम्बिका

परिचय

अम्बिका बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथकी शासनदेवी कहलाती है। वह नर और देव दोनों ही पर्यायोंमें उनकी भक्त थी और आज भी है। वह गिरनारपर रहती हुई भगवान्के भक्तोंकी सहायता करती है। भगवान्के पथको प्रशस्त करने ही के कारण वह उनकी शासनदेवी है, उनके मतमें सर्वप्रथम दीक्षित होनेके कारण नहीं[2]। ऐसा नियम कहीं नहीं है कि सर्व-प्रथम दीक्षित होनेवाली स्त्री शासनदेवीके पदपर प्रतिष्ठित की जायेगी। अम्बिकाकी ख्याति अधिक थी, तेरहवीं शताब्दी तकके मूर्तिकारोंने उसकी मूर्तियाँ भगवान् ऋषभदेवके साथ उत्कीर्ण की हैं,[3] जब कि होना चाहिए चक्रेश्वरीकी।

बाह्यरूप

यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थोंके अनुसार अम्बिकाके बाह्य रूपमें बहुत कुछ समानता पायी जाती है, फिर भी कुछ अन्तर है। श्वेताम्बर ग्रन्थ बप्पभट्ट सूरिके 'चतुर्विंशतिका' में लिखा है, "भगवती अम्बा देवीके चार हाथ हैं। वह दोमें आम्रकी डाली और पाश ग्रहण करती है तथा शेष दोमें अंकुश और पुत्र रखती है। उनके शरीरका रंग सोने-जैसा है। वह सिंहपर चढ़ती हैं। भगवान् नेमिनाथ-की शासनदेवी हैं।"[4] रूप-मण्डनमें लिखा है, "भगवान् नेमिनाथके तीर्थमें

---

१. श्रीधराचार्य, पद्मावतीस्तोत्र : भैरव-पद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट २७, पृ० १०९।
२. श्री बी० सी० भट्टाचार्यने सर्व-प्रथम दीक्षित होनेके कारण ही उसको शासनदेवी माना है।
देखिए, बी० सी० भट्टाचार्य, जैन इक्नाग्राफी : लाहौर, पृष्ठ ९३।
३. देखिए इसी 'ग्रन्थ' के इसी अध्यायमें, 'देवी अम्बिकाकी मूर्तियाँ।'
४. बप्पभट्टसूरि, चतुर्विंशतिका : पृष्ठ १५०।

कूष्माण्डी (अम्बिका) नामक देवी हैं, वह स्वर्ण-जैसे वर्णवाली, सिंहवाहिनी और चार हाथवाली है। उसके दक्षिण उभय हस्तमें बीजपूरक और पाश हैं। बायें दो हाथोंमें पुत्र और अंकुश हैं।[1]" कहीं-कहीं दाहिने हाथमें आम्र-गुच्छका भी उल्लेख है। श्री जिनप्रभसूरिने 'अम्बिकादेवी-कल्प' की रचना की है। उसके अनुसार "भगवतीके चार हाथ होते हैं जिनमें-से दाहिने दो हाथोंमें क्रमशः 'अम्बलुम्बि' और 'पाश' रहता है, बायीं ओरके दो हाथोंमें पुत्र तथा अंकुश होते हैं, उत्तप्त स्वर्णके समान उसके शरीरका रंग है और वह रैवतकगिरिके शिखरपर निवास करती है।[2]" पण्डित आशाधरके दिगम्बर प्रतिष्ठा-पाठमें देवीकी आराधनाका विधान करते हुए कहा गया है, "जो देवी दस धनुष प्रमाण ऊँचे जिनेन्द्रकी भक्त है, गहरे हरित आभावाली है, आम्र-वृक्षकी छायामें रहती है, उस सिंहपर सवारी करती है, जो पूर्वभवमें पति था, बायें हाथमें आम्र फलोंका गुच्छा, गोदमें बैठे हुए प्रियंकर पुत्रको बहलानेके लिए लिये हुए है, और उनके सीधे हाथकी अंगुलियोंको शुभंकर पकड़े है, ऐसी देवी आम्रा या अम्बिकाका सभी यजन करते हैं।[3]" सोलहवीं शतीके प्रसिद्ध पण्डित नेमिचन्दजीने अम्बिकाका निरूपण करते हुए लिखा है, "जिसकी बायीं गोदमें प्रियंकर सुत और बाँयें हाथमें आम्रकी मंजरी है, जो सीधे हाथमें शुभंकरकी अँगुली पकड़े हुए है, जो उस प्रशस्त सिंहपर आसीन है,

---

१. तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कूष्माण्डीं देवीं कनकवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां मातुलिंगपाशयुक्तदक्षिणकरां पुत्राङ्कुशान्वितवामकरां चेति।
रूपमण्डन : पृष्ठ ४२।

२. सा य भगवई चउब्भुआ दाहिणहत्थेसु अंबलुंबि पासं च धारेइ। वामहत्थेसु पुण पुत्तं अंकुसं च धारेइ। उत्तत्तकणयसवण्णं च वण्णमुव्वहइ सरीरे। सिरिनेमिनाहस्स सासणदेवय त्ति निवसइ रेवइगिरिसिहरे। मउड-कुंडलमुत्ताहलहाररयणकंकणनेउराइसव्वंगीणाभरणरमणिज्जा पूरेइ सम्म-दिट्ठीण मणोरहे, निवारेइ विग्घसंघायं।
जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प : पृ० १०७।

३. सव्येकद्युपगप्रियङ्करसुतुक् प्रीत्यै करं बिभ्रतीं
दिव्याम्रस्तवकं शुभङ्करकरश्लिष्टान्यहस्ताङ्गुलिम्।
सिंहे भर्तृचरे स्थितां हरितमाभाम्रद्रुमच्छायगां
वदारुं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्रां यजे॥
पं० आशाधर, प्रतिष्ठासार : १७६वाँ श्लोक।

जो पूर्व-भवमें उसका पति था, जो महान् आम्र-वृक्षकी छायामें आश्रित है, और जो भगवान् नेमिनाथके चरणोंमें सदैव नम्रीभूत रहती है, ऐसी आम्रा या अम्बिका देवीकी मैं आराधना करता हूँ।"[1]

दोनों ही सम्प्रदायों में देवी अम्बिकाका वाहन सिंह स्वीकार किया गया है। दोनों ही ने देवीके दो पुत्र माने हैं। दोनों ही ने देवीके दायें हाथमें आम्र-मञ्जरी रखी है। श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें देवीके चार हाथ माने गये हैं, जब कि दिगम्बर प्रतिष्ठा-पाठोंमें दो ही हाथोंका उल्लेख है। वैसे ईसाकी दूसरी शताब्दीसे सातवीं शताब्दी तक अम्बिकाकी सभी मूर्तियोंमें चाहे वे दिगम्बरोंकी हों या श्वेताम्बरों की, दो ही हाथोंका अंकन हुआ है।[2] श्वेताम्बरोंने देवीका रूप सोनेकी चमक-जैसा माना है, जब कि दिगम्बर हरित आभावाला स्वीकार करते हैं। दिगम्बर अम्बिकाको यक्ष-पर्यायका बताते हैं, जब कि श्वेताम्बर उसे सौधर्म-कल्पकी देवी मानते हैं। वे अम्बिकाको कोहण्डी कहते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार गिरिनारके झम्पापातसे मरकर अग्निलाका जन्म कोहण्ड नामके विमानमें हुआ था। किन्तु दोनों ही देवी-को भगवान् नेमिनाथकी शासनदेवीके रूपमें स्वीकार करते हैं।

अम्बिकासम्बन्धी विविध कथाओंका तुलनात्मक विवेचन

श्रीवादिचन्द्रजीकृत 'अम्बिका-कथा'के अनुसार सोमशर्मा जूनागढ़के राजा भूपालका राज-पुरोहित था। उसकी पत्नीका नाम अग्निला था। उसके शुभंकर और प्रभंकर नामके दो पुत्र थे। एक बार पितृश्राद्धके दिन सोमशर्माने अन्य ब्राह्मणोंका निमन्त्रण किया, किन्तु उसके पूर्व ही अग्निलाने ज्ञानसागर नामके जैन मुनिको विधिवत् आहार दे दिया, जिससे कुपित होकर सोमशर्माने उस स्वेच्छाचारिणी स्त्रीको घरसे निकाल दिया। वह दोनों पुत्रोंको लेकर गिरिनगर पर्वतपर चली गयी, और वहाँ आम्रवनमें रहने लगी। जब पुत्रोंको भूख लगी तो मुनि-आहारके पुण्यसे शुष्क आम्र-वृक्ष फलोंसे युक्त हो गया। उसकी शाखाएँ

---

१. धत्ते वामकटौ प्रियङ्करसुतं वामे करे मञ्जरी
आम्रस्यान्यकरे शुभङ्कर तुजौ हस्तं प्रशस्ते हरौ।
आस्ते भर्तृचरे महाम्रविटपिच्छायंश्रिताऽभीष्टदा
याऽसौ तां नुत नेमिनाथपदयोर्नम्रामिहाम्रां यजे ॥
पं० नेमिचन्द्र, प्रतिष्ठातिलक : ७।२२।

२. मथुरा, लखनऊ और प्रयागके मूर्त्ति संग्रहालयोंकी मूर्तियोंसे स्पष्ट है।

नीचे लटकने लगीं। पके हुए आमोंसे पुत्रोंकी भूख शान्त हुई।[1] उधर गिरिनगर ग्राममें आग लग गयी और अग्निलाके घरको छोड़कर सभी जल गये। भूखे ब्राह्मण वहाँपर ही लौटकर आये और अग्निलाके पुण्य तथा शीलकी प्रशंसा की। अनेक ब्राह्मणोंने भोजन किया फिर भी भोज्य पदार्थोंका भण्डार अक्षय रहा।[2] इस घटनासे प्रभावित हो पति पत्नीको लेनेके लिए पर्वतपर गया, किन्तु उसके भावको दूषित अनुमान कर अग्निला पुत्रोंसहित पर्वतकी शिखासे झम्पापात कर मर गयी। वह ऋद्धिशालिनी यक्षी हुई।[3] इस दुःखसे दुःखी पति भी मर गया और वह देवीका वाहन सिंह बना।

पुण्यास्रव कथाकोषकी एक प्राचीन प्रतिमें 'यक्षी-कथा'के शीर्षकसे अम्बिका-की कथा ही निबद्ध है। कथानक वादिचन्द्रकी कथा जैसा ही है, केवल सोमशर्मा राज-पुरोहित न होकर गिरिनगरका एक साधारण वेदपाठी ब्राह्मण है, और जैन मुनिका नाम ज्ञानसागर न होकर वरदत्त दिया हुआ है।

बप्पभट्टसूरिकी चतुर्विंशतिकामें 'अम्बिकादेवीकल्प' नामका एक अध्याय है। उनके अनुसार सोमशर्मा सौराष्ट्र देशके कोडीनगरका रहनेवाला था। उसकी पत्नीका नाम अम्बिका था। उसके सिद्ध और बुद्ध दो पुत्र थे। पितृ-श्राद्धके दिन पत्नीने ब्राह्मणोंसे पहले एक मासोपजीवी जैन-भिक्षुको आहार दे दिया। अम्बिकाकी सास, जो स्नान करने गयी थी, जब लौटकर आयी और इस आहारदानको जाना तो स्वयं क्रुद्ध हुई, और अपने पुत्रसे भी सब वृत्तान्त कह दिया। उसने पत्नीको घरसे निकाल दिया। वह सिद्धकी अँगुली पकड़, बुद्धको गोदमें ले, एक ओर चल दी। मार्गमें जब पुत्रोंको प्यास लगी, तो सूखा तालाब जलसे भर गया और जब भूख लगी, तो आम्रका वृक्ष फलोंसे लद गया। इधर अम्बिकाके सासरेमें एक स्त्रीने उच्छिष्ट भोजन बाहर फेंका, तो वह स्वर्णमय हो गया। सासने इसे सुलक्षणी बहूका पुण्य-प्रभाव समझा, बहूको वापस लानेके लिए पुत्रको भेजा, किन्तु अम्बिका उसे आता देख भयभीत हुई और एक कुएँमें जा गिरी। मरकर सौधर्म-स्वर्गसे चार योजन नीचे कोहण्ड विमानमें अम्बिका नामकी देवी हुई। विमानके नामसे वह कोहण्डी कहलायी। इस दुःखसे पति भी मरा और आभि-

---

१. वादिचन्द्र, अम्बिका-कथा : ३२ वाँ श्लोक।
२. वहीं : ४३वाँ श्लोक।
३. देखिए वही : ४८वाँ श्लोक।

योगिक देवदास हुआ। कर्मानुसार उसे देवीके वाहनका काम करना पड़ता था।[1] श्रीजिनप्रभसूरिने 'अम्बिकादेवी-कल्प' में यह ही कथा प्राकृत भाषामें दी है। कथानक तो एक है ही, नामों आदिमें भी अन्तर नहीं है। प्रभावकचरितमें भी अम्बिकाकी कथा कुछ नाम-भेदोंके अतिरिक्त वह ही है। एक 'अम्बिकादेवीरास' कविवर देवदत्तने, वि० सं० १०५० के लगभग, अपभ्रंश भाषामें, रचा था।[2] किन्तु वह अभी तक अनुपलब्ध है, अतः उसकी कथाके विषयमें कुछ कहा नहीं जा सकता।

देवी अम्बिकाकी मूर्त्तियाँ

अम्बिकाकी प्राचीन मूर्त्तियाँ उदयगिरि और खण्डगिरिकी नवमुनिगुफाओं तथा काठियावाड़में ढंककी गुफाओंसे प्राप्त हुई हैं। इनका रचनाकाल ईसवी द्वितीय और सातवींके मध्य माना जाता है।[3] मथुराके कंकाली टीलाकी खुदाइयोंमें अम्बिकाकी अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं, जो ईसवी द्वितीय और सातवींके बीच कभी बनी थीं। ये सब मथुरा-संग्रहालयमें संकलित हैं। उनमें भी अंक 'D 7' की मूर्त्ति सर्वाधिक प्रसिद्ध और कला-पूर्ण है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने उसको गुप्त-युगका माना है। यह द्विभुजी मूर्त्ति सिंहपर बैठी है, बायीं गोदमें एक बालक है, जो मूर्त्तिके गलेमें पड़े हारसे खेल रहा है। बायें हाथमें आम्र-लुम्बक है, जो कुछ टूटा हुआ है। दूसरा बालक दायीं ओर खड़ा है। यह मूर्त्ति एक आम्र-वृक्षके नीचे उत्कीर्ण की गयी है। दायें किनारेपर हाथमें लड्डू लिये श्री गणेशजी और दूसरी ओर श्री कुबेर 'विराजमान' हैं। देवीके ऊपर ध्यान-मुद्रामें बैठे हुए तीर्थंकरकी मूर्त्ति है।[4] इसके अतिरिक्त 'F 16' की मूर्त्ति भी अम्बिका देवीकी ही है, जो कुशाण-युगमें बनी थी।[5] '१०४८' और '१०५७' की भी मूर्त्तियाँ अम्बिकाकी ही हैं, जो पूर्व मध्य-युगमें निर्मित हुई थीं। यमुनासे निकली हैं।[6] संख्या ३३८२ की मूर्त्ति मथुरा नगरसे ११ मील दक्षिण, बेरी नामक गाँवसे लायी गयी है। यह प्रतिमा दो स्तम्भोंके बीचमें उत्कीर्ण है। वह ललितासनपर बैठी

१. बप्पभट्टसूरि, चतुर्विंशतिका : अम्बिकादेवी-कल्प : पृ० १४८–१५०।
२. कविवर देवदत्त; अपभ्रंशके प्रसिद्ध कवि वीर (वि० सं० १०७६) के पिता थे।
३. जैन सिद्धान्तभास्कर : भाग २१, किरण १, पृ० ३४।
४. Dr. V.S. Agrawal, Mathura Museum, Catalogue, Part-III, p. 31-32.
५. देखिए वही : पृष्ठ ५५।
६. देखिए वही : पृष्ठ ६७।

हुई है, दायाँ पैर एक कमल पुष्पके ऊपर रखा है। बायीं गोदमें एक शिशु है, जिसे देवी दोनों हाथोंसे पकड़े हुए है। देवीका केश-पाश भी सुन्दर ढंगसे सजा हुआ है। उसका कण्ठहार और गोल कर्ण-कुण्डल भी दर्शनीय हैं। मूर्त्तिके बाँयें किनारेपर एक सिंह अंकित है, जिसके ऊपर-नीचे एक-एक मकर है। इनका चित्रण केवल प्रसाधनके रूपमें किया गया है। शिलापट्टके दायीं ओर भी इसी प्रकारका अलंकरण था, जो टूट गया है। मूर्त्तिके ऊपर पत्र-रचना बनायी गयी है। प्रस्तुत मूर्त्ति पूर्व-मध्यकालीन मथुरा-कलाका निदर्शन है।[1]

कलकत्ता-संग्रहालयमें नं० ४२१८ की मूर्त्ति, एक वृक्षके नीचे बैठे गोमेध यक्ष और अम्बिकाकी है। अम्बिकाकी गोदमें बालक है, उसके ऊपर ध्यानाकार ऋषभदेव विराजमान हैं, और सबसे नीचे छह मनुष्योंके अखण्डित आकार हैं, जो भक्त कहे जा सकते हैं। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने इस मूर्त्तिको, इन्द्र-इन्द्राणी अथवा तीर्थङ्करके माता-पिताकी समझी थी।[2] अब यह स्वीकार किया जा चुका है कि १३वीं शताब्दी तक अम्बिकाकी मूर्त्तियाँ भगवान् ऋषभदेवके साथ उत्कीर्ण की जाती थीं। नवाब साराभाईके निजी संग्रहालय, मथुरा और लखनऊके पुरातत्त्व-संग्रहालय और सौराष्ट्र देशान्तर्गत ढाँककी गुफाओंमें, अम्बिकाकी ऐसी अनेक मूर्त्तियाँ हैं, जो भगवान् ऋषभदेवसे सम्बन्धित हैं।

प्रयाग-संग्रहालयकी संख्या २३५ की प्रतिमा भगवान् ऋषभदेवकी है, जिसके बायीं ओर अम्बिकाकी मूर्त्ति है। रचना-काल ९ से ११वीं शतीका मध्य है। प्रयागके ही नगर-सभा-संग्रहालयमें उद्यानकूपके निकट छोटेसे छप्परमें एक ऐसी लाल पत्थरकी अम्बिका-मूर्त्ति विराजमान है, जो शिलाके मध्य भागमें ४१ इंचमें अंकित है। यह मूर्त्ति आभूषणोंसे युक्त है। आभूषणोंका प्रत्येक अवयव बिलकुल स्पष्ट है। देवीके दोनों चरण सुन्दर वस्त्रसे आच्छादित हैं। केश-विन्यासमें कमल-पुष्प बनाये गये हैं। नासिका खण्डित है। प्रतिमाके दायीं ओर एक बालक सिंहपर आरूढ़ है, बायीं ओर भी एक बालक अम्बाका हाथ पकड़े खड़ा है। निम्न भागमें अञ्जलिबद्ध स्त्री-पुरुष अंकित हैं, जो अम्बाके भक्त ही होने चाहिए। इस प्रतिमाके लिए मुनि कान्तिसागरने लिखा है, "इस प्रतिमाने मुझे ऐसा प्रभावित किया कि जीवन पर्यन्त उसका विस्मरण मेरे लिए असम्भव हो गया। बात यह है कि

---

१. जैन सिद्धान्तभास्कर : भाग १५, किरण २, पृ० १३२।
२. बंगाल, बिहार, उड़ीसाके प्राचीन जैन स्मारक, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी सम्पादित, पृष्ठ १९।

आज तक सम्पूर्ण भारतमें इस प्रकारकी प्रतिमा न मेरे देखनेमें आयी है और न सूचना मिली है। इसका परिकर न केवल जैनशिल्प-स्थापत्यकलाका प्रतीक है, अपितु भारतीय देवी-मूर्त्ति-कलाकी दृष्टिसे भी अनुपम है।''[1]

आबू पहाड़पर अम्बादेवीका एक मन्दिर है, इसमें जो प्रधान मूर्त्ति भगवान् ऋषभदेवकी विराजमान है, वह बहुत प्राचीन नहीं है, सम्भवतः प्राचीन प्रतिमा महमूद ग़ज़नवीके द्वारा ध्वस्त कर दी गयी थी।[2] 'कांगड़ा फोर्ट' स्थानपर भी अम्बादेवीका मन्दिर है, इसमें विराजित मूर्त्तिकी आज भी पूजा होती है।[3] महाकोशलमें बिलहारी ग्रामके पास जलाशयपर एक मन्दिर बना हुआ है, जिसके गर्भगृहमें चक्रेश्वरी, अम्बिका और पद्मावतीकी मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। ये मूर्त्तियाँ १२-वीं सदीसे अधिककी नहीं हैं। मध्य प्रान्तके भद्रावती नगरमें भी अम्बिकादेवीका एक मन्दिर है। मि० बेगलेरने १८७२-७३ में बंगालका भ्रमण किया था, उन्होंने कुछ ऐसी सड़कोंका पता लगाया है, जो प्राचीनकालमें वर्त्तमान थीं, और धर्म-प्रचारके लिए सुविधाजनक थीं। ये महोदय पुरलियासे २३ मील दक्षिण-पश्चिम पकबीरा स्थानपर भी गये थे, और उन्होंने एक मूर्त्ति बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथकी यक्षिणी अम्बिका या अम्रिलाकी देखी थी।[4] बिजौलियाके ७२वें श्लोकसे विदित है, "श्री सीयणके आनेपर उस कुण्डसे पद्मा, क्षेत्रपाल, अम्बिका, ज्वालामालिनी और सर्पाधिराज निकले थे।"[5] अम्बिकादेवीकी कुछ ऐसी मूर्त्तियाँ भी हैं, जो आज अन्य नामोंसे पूजी जाती हैं। मध्यप्रदेशके पनागारमें थानेके सम्मुख एक गलीमें प्रवेश करते ही थोड़ी दूरपर 'खैरदैय्या' का स्थान आता है, जिसे जनता 'खैर माई या खैरदैय्या' नामसे सम्बोधित करती है। वह जैनोंकी अम्बिकादेवी है। यह ढाई फुटकी प्रतिमा, बैठी हुई मुद्रामें अंकित की गयी है। वह आम्रलुम्बक और बालकादिसे युक्त है। मस्तकपर भगवान् नेमिनाथकी पद्मासनस्थ प्रतिमा है। पृष्ठ भागमें विस्तृत आम्रवृक्ष है।[6] विन्ध्याचलसे लगभग ३ मील दूर शिवपुर ग्राम है। यहाँ एक स्त्रीकी अखण्डित मूर्त्ति सिंहासनपर पुत्रको

१. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : पृ० २१८।
२. Progress report of the archaeological Survey of Western India, Poona (1901), P. 2-7।
३. Report of the Archacological Survey, Northern circle, 1905-6, Lahore, 1906, p. 23.
४ जैन सिद्धान्तभास्कर : भाग १९, किरण १, पृ० ५१।
५. जैन सिद्धान्तभास्कर : भाग २१, किरण २, पृ० २७।
६. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : पृ० १३८।

गोदमें लिये बैठी है। दाहिनी भुजा खण्डित है। बायीं भुजामें पुत्र है। सिंहासनके नीचे सिंह बना है। उसके दोनों ओर सात मुसाहिब हैं, दो उड़ते हुए और पाँच खड़े हुए। पीछे एक बड़ा वृक्ष है। यहाँके रहनेवाले इसे संकटा देवी कहते हैं।[१] किन्तु उसके वर्णनसे स्पष्ट है कि मूर्त्ति श्रीअम्बिकादेवीकी है। पूनाकी रिपोर्टसे विदित है कि टन्कईमें ब्राह्मण और जैन-गुफाएँ हैं, यहाँ एक अम्बादेवीकी मूर्त्तिको हिन्दू बना लिया गया है। भद्रेश्वरपर अम्बाजीका एक मन्दिर है, जिसमें हिन्दू, पारसी और जैन सभी अपने बच्चोंका मुण्डन संस्कार करवाते हैं।[३]

अम्बिका-भक्ति

जैन-शासनकी समृद्धिके लिए अम्बिकाने सदैव योग दिया है। एक बार सुश्रावक परमार्हत श्री नागदेव, 'युग-प्रधान' पदके लिए एक योग्य व्यक्तिको खोज लेना चाहते थे। इसलिए उन्होंने ऊर्जयन्तपर जाकर तप किया। तीन दिनके उपवासके उपरान्त अम्बिकाने प्रकट होकर उन्हें श्री जिनदत्तसूरिका नाम बतलाया।[४] आनेवाले समयमें सूरिजी अद्वितीय प्रमाणित हुए। देवीकी कृपासे ही उस समयका युग सच्चे युग-प्रधानको पा सका। देवीके इसी गुणपर विमुग्ध हो भक्तोंने भी उन्हें तीर्थंकरके समान ही पूजा, स्तुति की, मूर्त्तियाँ बनवायीं और उनके मन्दिर-चैत्योंकी स्थापना की।

एक भक्त देवीके चरणोंमें झुका हुआ तीनों लोकोंके पापोंको नष्ट करनेकी प्रार्थना करता है, "हे अम्बिका ! तुम ह्रींके द्वारा बड़े-बड़े विघ्नोंके समूहोंको नष्ट करती हो, दुष्टोंके मन्त्र, विद्या और बलको मूलसे काट देती हो, और एक हाथ, में सहकार-लुम्बिकाको धारण करनेवाली हो। हे देवि ! मैं आपसे संसारके पापोंको दूर करनेकी प्रार्थना करता हूँ।[५]"

देवी अम्बिकामें उदारताकी कमी नहीं है। वह भक्त-वत्सला है, उसके

---

१. देखिए 'संयुक्त प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक' : पृ० ५९-६०।
२. Progress report of the archaeological survey of western India, Poona, p. 1912, 57-58.
३. देखिए वही : Simla and Poona, 1906. p. 38-55.
४. अगरचन्द नाहटा, युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि · पृ० ५३।
५. ह्रीं महाविघ्नसङ्घातनिर्णाशिनी दुष्टपरमन्त्रविद्यावलच्छेदिनी।
हस्तविन्यस्तसहकारफललुम्बिका, हरतु दुरितानि देवी ! जगत्यम्बिका ॥
जिनेश्वर सूरि (१२वीं शताब्दी), अम्बिकादेवी-स्तुति : ७वाँ श्लोक, भैरव-पद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट २१, पृ० ९६।

भक्तोंकी पुकार कभी व्यर्थ प्रमाणित नहीं हुई। पुकार तो दूरकी बात है, देवी-का एक बार नाम लेना ही पर्याप्त है। रैवतक गिरिपर निवास करनेवाली वह देवी अपना नाम लेनेवालेके समूचे पापोंको क्षण-भरमें नष्ट कर देती है। उसकी उदारता सराहनीय है, वह सच्चे अर्थोंमें जगत्स्वामिनी है।[1] माँकी ममतासे उसने जगत्के हृदयोंको जीता है। उसकी जय-जयकार करते हुए कोई कभी थकता नहीं। माँ 'ॐ ह्रीं' मन्त्र रूप है, इसी लिए कल्याणकी साक्षात् मूर्त्ति है, और संसारके प्राणियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ है। माँके वक्षस्थलपर स्फुरायमान तारहारावली और कानोंमें हिलते कर्णताटङ्क, मानो हिल-हिलकर माँके रम्य हृदयकी ही घोषणा कर रहे हैं।[2] वह माँ वरदा है, कल्पलता, स्तुतिरूपा और सरस्वती है। माँके पादाग्रमें भक्त झुके ही रहते हैं। माँ भी अतुल फलोंसे उनके शुष्क हृदयोंको सरस बनाती है। माँके हाथका आम्र-लुम्बक माँके पल्लवित वात्सल्यका ही प्रतीक है।[3]

दूसरी ओर माँका विकराल रूप भी है, जिसके द्वारा वह दुष्टोंका संहार करती है। तामसिकताका उन्मूलन करना भर ही देवीका उद्देश्य नहीं है, किन्तु यह तो सात्त्विकताको स्थापित करनेका एक उपाय-मात्र है। माँका लक्ष्य दिव्य है। तामसिकताका नाश होना ही चाहिए। तामसिकताके प्रतीक भूत, राक्षस और पिशाचोंको विदीर्ण कर, देवी युग-युगमें शान्ति, धृति, कीर्त्ति और सिद्धिकी स्थापना करती रही है।[4] वह अपने खर नख-दंष्ट्रोंसे शत्रुओं-

---

१. पिङ्गतारोत्पतद्भीमकण्ठीरवे नाममन्त्रेण निर्णाशितोपद्रवे।
अवतरावतर रैवतकगिरिनिवासिनि अम्बिके! जय जय त्वं जगत्स्वामिनी॥
देखिए वही: श्लोक २।

२. ॐ ह्रीं मन्त्ररूपे शिवे शङ्करे अम्बिके देवि! जय जन्तुरक्षाकरे।
स्फुरत्तारहारावलीराजितोरःस्थले कर्णताटङ्करुचिरम्यदङ्कस्थले॥
देखिए वही: श्लोक २।

३. वरदे! कल्पवल्लि! त्वं स्तुतिरूपे! सरस्वति।
पादाग्रानुगतं भक्तं लम्भयस्वातुलैः फलैः॥
महामात्यवस्तुपाल (मृत्यु ई० १२४१), अम्बिकास्तवनम्: ९वाँ दोहा,
देखिए वही: पृ० ९५।

४. स्तम्भिनी मोहिनी ईश उच्चाटने
क्षुद्रविद्राविणी दोषनिर्णाशिनी।
जम्भिनी भ्रान्ति भूतग्रहस्फोटिनी
शान्ति-धृति-कीर्ति-मति-सिद्धिसंसाधिनी॥
जिनेश्वरसूरि, अम्बिकादेवी-स्तुति: श्लोक ३, देखिए वही, पृ० ९६।

का विदलन करनेमें पूर्ण समर्थ है।[1] भक्त तो देवीके इस शक्तिशाली रूपपर ही मोहित हुआ है और उसका हृदय बार-बार देवीको प्रचण्डा कहनेके लिए चाह उठता है।[2] प्रत्येक प्रातःमें उसने माँके इसी रूपके गीत गाये हैं, और सचमुच उसे वैभव मिला है, सम्पत्ति प्राप्त हुई है, कल्याण उपलब्ध हुआ है। माँके स्तवनने उसके विशृंखल, टूटे-फूटे जीवनमें आनन्दको जन्म दिया है।[3]

तेरहवीं शताब्दीमें एक ओर तो कण्हप-कालसे चली आनेवाली स्वांगकी नाट्य-परम्परा थी, जिसके नाटक डोम और डोमनियों-द्वारा अभिनीत होते थे, दूसरी परम्परा रासकी थी, जिसका अभिनय बहुरूपिये अथवा जिणसेवक किया करते थे। बहुरूपियों-द्वारा नाटकोंका अभिनय मन्दिरोंके बाहर होता था, किन्तु जैनमन्दिरोंमें अभिनय कर्त्ता जैनधर्मके सेवक हुआ करते थे।[4] जम्बूस्वामी चरिउमें अम्बादेवी-रासका उल्लेख हुआ है।[5]

३. देवी चक्रेश्वरी

वज्र-हस्ता

यतिवृषभ (छठी शताब्दी) की तिलोयपण्णत्तिमें चक्रेश्वरी देवीको भगवान् ऋषभदेवकी शासनदेवी कहा गया है।[6] देवीके दस हाथ और चार मुँह होते हैं

---

१. देखिए, चतुर्विंशतिका: श्लोक ९६।

२. ॐ प्रचण्डे प्रसीद प्रसीद क्षणं
हे सदानन्दरूपे विधेहि क्षणम् ॥
जिनेश्वरसूरि, अम्बिकादेवी-स्तुतिः श्लोक ४, वही : पृ० ९६।

३. देवि प्रकाशयति सन्ततमेष कामं
वामेतरस्तव करश्चरणानतानाम्।
कुर्वन् पुरः प्रगुणितां सहकारलुम्बि—
मम्बे विलम्ब विकलस्य फलस्य लाभम् ॥
महामात्य वस्तुपाल, अम्बिका-स्तवनम् : श्लोक ५, वही : पृ० ९५।

४. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास : भूमिका, डॉ० द्विवेदी लिखित, पृ० ख।

५. "चंचरिय बंधिविरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारु जसु,
नच्चिज्जइ जिणपय सेवयहि, किमु रासउ अंबादेवियहिं।"—
देखिए वही : पृ० ५३८।

६. तिलोयपण्णत्ति: भाग १, ४।९३७, पृ० २६७।

वैसे देवीकी मूर्त्तियोंमें चारसे सोलह तक हाथोंका अंकन हुआ है। प्रत्येक हाथमें चक्रको धारण करनेके ही कारण देवी चक्रेश्वरी कहलाती है। चक्र एक आयुध विशेष है, जिसके घुमानेपर ज्वालाएँ फूटती हैं और जिसकी तेज धारसे अक्षौहिणी सेनाएँ कटती चली जाती हैं। वह शक्तिमें इन्द्रके वज्रसे कम नहीं होता। इसी कारण देवीको वज्र-हस्ता कहा जाता है। चक्रवर्तीके पास ऐसा एक ही चक्र होता है और देवीके पास दस।

गरुड़वाहिनी

देवीका वाहन गरुड़ है। गरुड़ पक्षियोंका राजा होता है। उसका वेग अप्रतिद्वन्द्वी है। खगराजपर सवार हो देवी विश्वशासनका संचालन करती है। यदि उसका वाहन इतना तीव्रगामी न होता तो वह आदि तीर्थंकरके धर्मका प्रचार समूचे विश्वमें कैसे कर पाती। सबसे पहले जब कि कर्मभूमिका उदय ही हो रहा था, घर-घरमें भगवान् 'जिन' के सन्देशको पहुँचानेके लिए देवीको गरुड़-जैसे वाहनकी आवश्यकता थी। हम उसे गरुड़वाहिनी कहते हैं।

देवी चक्रेश्वरीसे सम्बन्धित जैन-पुरातत्त्व

देवी चक्रेश्वरीकी एक मूर्त्ति मथुरा संग्रहालयमें नं० 'D.6' पर संगृहीत है। इसका निर्माण गुप्ता-युगमें हुआ था। यह गरुड़पर रखे एक गद्देपर आसीन है। उसके दस हाथ हैं और प्रत्येकमें एक-एक चक्र है। यद्यपि उसका सिर टूट गया है, किन्तु उसके चारों ओरका कमलोंसे बना दीप्त मण्डल तदवस्थ है। देवीके दोनों ओर दो औरतोंकी मूर्त्तियाँ हैं, दाहिनी ओरकी स्त्री चमर और बायीं ओरकी पुष्पमालाको धारण किये हुए है। दोनों ही के चेहरे घिसे हुए हैं। देवीके सिरके ऊपर ध्यानमुद्रामें एक 'जिन' की मूर्त्ति है, जो बहुत अधिक टूटी हुई है। इसके दोनों ओर उड़ती हुई मूर्त्तियाँ हैं, जो पुष्पोंका गजरा लिये हुए हैं।[१] ऐसी ही एक मूर्त्ति देवगढ़की खुदाइयोंसे भी उपलब्ध हुई है। मूर्त्तिके सोलह भुजाएँ हैं। वह गरुड़पर सवार है। बनावट कलापूर्ण एवं चित्ताकर्षक है। इसका रचनाकाल वि० सं० १२२६ माना जाता है।[२] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल भी उसे मध्य-कालका

---

१. Dr. V. S. Agrawal, Mathura Museum catalogue, Part III, p. 31.

२. जैन सिद्धान्तभास्कर : भाग २२, किरण १, पृ० १६।

हो मानते हैं।[1]

चन्द्रगिरिके शासनवस्ति मन्दिरके गर्भगृहमें, आदिनाथ भगवान्‌की पाँच फ़ुट ऊँची मूर्ति है, जिसके दोनों ओर चौरीवाहक खड़े हुए हैं। सुखनासिमें यक्ष-यक्षिणी, गोमुख और चक्रेश्वरीकी प्रतिमाएँ हैं। इस मन्दिरका निर्माण सेनापति-गंगराजने 'इन्दिराकुल गृह'के नामसे करवाया था। निर्माणकाल शक सं० १०३९ से पूर्व ही अनुमान किया जाता है, जैसा कि भगवान् आदिनाथके सिंहासनपर खुदे लेख नं० ६५ से विदित है।[2]

उत्तर भारतकी चक्रेश्वरी गरुड़वाहिनी, चतुर्भुजी और अष्टभुजी होती हैं। चतुर्भुजी मूर्त्तियाँ वाहन-विहीन भी मिलती हैं। महाकौशलमें तो चक्रेश्वरीका स्वतन्त्र मन्दिर है। चक्रेश्वरी गरुड़पर विराजमान हैं, और मस्तकपर युगादिदेव हैं। यह मन्दिर बिलहरीके लक्ष्मणसागरके तटपर अवस्थित है। राजघाट [वाराणसी] की खुदाईसे भी चक्रेश्वरीकी प्रतिमाका एक अवशेष निकला है। भारत-कला-भवनमें सुरक्षित है।[3]

प्रयाग संग्रहालयकी 'नं० ४०८' की मुख्य प्रतिमाके अधोभागमें एक चक्रेश्वरीकी प्रतिमा है। मूर्तिके चार हाथ हैं, और उनमें वह शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये है। उसके नीचे भक्तोंकी मूर्त्तियाँ अंकित हैं। प्रयागके ही नगर-सभा संग्रहालयके बाहर फाटकके सामने अलग-अलग चार अवशेष रखे हैं, जिनमें चौथे अवशेषके दक्षिण निम्न भागमें गोमुख यक्ष और बायीं ओर चक्रेश्वरीकी मूर्तियाँ हैं। मध्यमें वृषभका चिह्न अंकित है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत अवशेष ऋषभदेवकी प्रतिमाका है।[4]

रोहड़खेड़ नामका ग्राम विदर्भान्तर्गत धामण गाँवसे खामगाँवके मार्गमें आठवें मीलपर अवस्थित है। अपभ्रंश साहित्यके महान् कवि पुष्पदन्त इसी नगरके थे, ऐसी कल्पना श्री प्रेमीजीने की है।[5] यहाँ एक जैन मन्दिरके ध्वंसा-

---

१. A medieval image of Jain yakshi chakreshuari from Deogarh is given on Pt II of A. S. R., 1917-18, Part I, Mathura Museum Catalogue, Pt III, D. 6, p.31.
२. डॉ० हीरालाल जैन, जैनशिलालेख संग्रह : प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १०।
३. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : पृ० ४० और १६७।
४. देखिए वही : प्रयाग संग्रहालय, प्रतिमा नं० ४०८।
५. श्रीनाथूराम प्रेमी, जैन-साहित्य और इतिहास : नवीन संस्करण, पृ० २२७-२८।

वशेषोंके पास शैव मन्दिर है, जिसमें अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि जैन देवियोंकी प्रतिमाएँ भी हैं, किन्तु अत्यन्त अरक्षित अवस्थामें विद्यमान हैं।[1] त्रिपुरीमें बाल-सागर सरोवर-तटपर जो शैव मन्दिर बना हुआ है, उसकी दीवालोंके बाह्य भागमें जैन चक्रेश्वरी देवीकी आधे दर्जनसे भी अधिक मूर्तियाँ लगी हैं। सरोवरके बीचो-बीच जो मन्दिर है, उसमें भी चक्रेश्वरीकी मूर्त्तियाँ हैं। मन्दिर और मूर्तियाँ मध्यकालकी हैं।[2]

रीवाँ संग्रहालयमें 'नं० १०४' पर युगादिदेवकी प्रतिमा है। इसके बायीं ओर चक्रेश्वरीकी मूर्ति है, जिसके चार मुख हैं। चक्रेश्वरीके दायें, ऊपरवाले हाथमें चक्र है, और नीचेवाला वरदमुद्रामें उठा है। बायाँ हाथ खण्डित है; अतः यह कहना असम्भव है कि वह उसमें क्या धारण किये थी। चक्रेश्वरीका वाहन भी स्त्रीमुखी ही है। इसमें भी बायीं ओर भक्तगणोंकी आकृतियाँ खुदी हुई हैं।[3]

चक्रेश्वरीकी भक्तिमें

मनुष्य उसीसे रक्षाकी याचना करता है, जो शक्ति-सम्पन्न हो। देवी तो शक्तिका रूप ही है। उसने समूचे विश्वको जीत लिया है, और दिशाओंके अन्त तक उसकी कीर्त्ति फैल गयी है। ऐसी सर्वोपमा देवीकी शरणमें जाकर रक्षाकी याचना करते हुए एक भक्त कहता है, "हे देवि चक्रेश्वरी! तुम्हारा मुख पूरे कलियुगको लील जानेमें समर्थ है। तुम्हारी आवाज़ दुन्दुभीकी भाँति भीमनाद करती हुई निकलती है। खगपतिपर सवार हो तुम जब विश्व-भ्रमणके लिए चलती हो, तो अच्छे व्यक्ति तुम्हारा दर्शन करनेके लिए लालायित हो उठते हैं, और दुष्टोंका खून सूख जाता है। चक्रमें-से फूटनेवाली किरणोंके साथ-साथ ही तुम्हारा विक्रम भी दशो दिशाओंमें फैल जाता है। इस भाँति विघ्नोंको कुचलती और विजयपताका फहराती हुई तुम साक्षात् जय-सी ही प्रतिभासित होती हो। यह सब कुछ तुम करनेमें समर्थ हो, क्योंकि तुम्हारे चित्तका आकार क्लीँ रूप हो चुका है, और तुमने 'ह्लां ह्लीं ह्लः' जैसे मन्त्रबीजोंको साध लिया है। हे देवि! मेरी भी रक्षा करो।"[4]

---

१. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : पृ० १२३।
२. देखिए वही : पृ० १२६।
३. देखिए वही : पृ० २००।
४. क्लीँ क्लीँ क्लीँकारचित्ते! कलिकलिवदने! दुन्दुभी भीमनादे! ह्राँ ह्रीँ ह्रः सः खबीजे! खगपतिगमने मोहिनी शोषिणी त्वम्।...

देवीका मन द्रवणशील है। उसकी उदारता प्रसिद्ध है। तपाये हुए सोनेकी भाँति देवीके चेहरेमें-से जो कान्ति फूटती रहती है, वह उदारताकी ही प्रतीक है। देवीने अपना भक्त होनेकी शर्त्त कभी नहीं लगायी। कोई भी अच्छा व्यक्ति देवीका वरदान पानेका अधिकारी है। देवीके वरदानोंमें मन्त्र-जैसी स्फूर्त्ति होती है, और शीघ्र ही वे अपना फल प्राप्त करा देते हैं। उनसे लक्ष्मी तो मिलती ही है, कीर्त्ति भी चारों ओर फैल जाती है। उनसे जन-मन प्रेम तथा सन्तोष उपलब्ध कर पाता है। हम देवीको महामन्त्र-मूर्त्ति कहते हैं।[1]

देवी चक्रेश्वरी वज्र-जैसी कठोर और पुष्पकी भाँति कोमल है। दोनोंका समन्वय उसकी उदारताका ही द्योतक है। देवीके इस समन्वयको एक श्लोकमें सुन्दर ढंगसे उपस्थित किया गया है। भक्त कहता है, "श्रेष्ठ चक्रको घुमाती हुई देवी चक्रेश्वरी यदि सुभीमा है तो शशधर-धवला भी, यदि कराला है तो वरदा भी, यदि रुद्रनेत्रा है तो सुकान्ता भी; यदि तीनों लोकोंको डराती है, तो अपने तत्त्वतेजके प्रकाशसे आनन्दित भी करती है, और यदि वह विषम विषसे युक्त है तो अमृतसे भी उपेत है।[2]" इस भाँति देवी दुष्टोंके दमनके लिए सुभीमा, कराला, रुद्रनेत्रा, भीषयन्ती और विषमविषयुता है, तथा सज्जनोंके लिए शशधर-धवला, वरदा, सुकान्ता, तत्त्वतेज:प्रकाशि और अमृतोपेता है। देवीके इसी रूपपर भक्त मोहित हुआ है और 'पाहि मां देवि' की रट लगा दी है।

तच्चक्रं चक्रदेवी भ्रमसि जगति दिक्चक्र-विक्रान्तकीर्त्ति—
र्विघ्नौघं विघ्नयन्ती विजयजयकरी पाहि मां देवि ! चक्रे ! ॥२॥
जैनस्तोत्रसमुच्चय : अमरविजयमुनिसम्पादित, बम्बई, सन् १९२८, श्रीचक्रेश्वरीदेवी-स्तुति : पृ० १४१।

१. श्राँ श्रीँ श्रूँ श्रः प्रसिद्धे ! जनितजनमन:प्रीतिसन्तोषलक्ष्मीं
श्रीवृद्धिं कीर्त्तिकान्तिं प्रथयसि वरदे ! त्वं महामन्त्रमूर्त्तिः।
त्रैलोक्यं क्षोभयन्तीमसुरभिदुरहुङ्कारनादैकभीमे
क्लीँ क्लीँ क्लीँ द्रावयन्ती द्रुतकनकनिभे पाहि मां देवि चक्रे ॥ ३ ॥
वही : पृ० १४१।

२. वज्रक्रोधे ! सुभीमे ! शशधरधवले ! भ्रामयन्ती सुचक्रं
राँ रीँ रौँ ह्रः कराले ! भगवति ! वरदे ! रुद्रनेत्रे ! सुकान्ते ! !
आँ ईँ ऊँ भीषयन्ती त्रिभुवनमखिलं तत्त्वतेज:प्रकाशि
क्षाँ क्षीँ क्षुँ क्षोभयन्ती विषमविषयुते ! पाहि मां देवि चक्रे ॥ ४ ॥
देखिए वही : पृ० १४२।

देवी जब हँसती है तो उसके दाँतोंकी सफ़ेदी चारों ओर फैल जाती है। देवीके शरीरका रंग भी क्षीरसागरकी भाँति श्वेत है। कर्णान्तचारी नेत्र कमल-जैसी सुषमासे ओत-प्रोत हैं। वह ऐसी सुषमा है, जिसके समक्ष पाप स्वयं गल जाते हैं। देवी अमृतका झरना है, जिसमें स्नान कर उत्तप्त संसारको स्थायी शीतलता प्राप्त होती है। देवीमें सत्त्वमात्रको पुष्ट करनेके बीज सन्निहित हैं, किन्तु ये बीज 'प्रलय-विष' में सुरक्षित रहते हैं।[1] मौतमें ही जन्मके बीज मिले रहते हैं। मौत समाप्ति नहीं, किन्तु एक नया निर्माण है। देवीका उपर्युक्त आश्चर्य इसी तथ्यका उद्घाटन करता है।

जिनदत्त सूरि (वि० सं० १२वीं शताब्दी) ने एक चक्रेश्वरी-स्तोत्रकी रचना की थी। उसकी भाषा संस्कृत है और भाव सरस।[2] यह स्तोत्र भैरव-पद्मावतीकल्प (अहमदाबाद) के परिशिष्टमें प्रकाशित हुआ है। उसमें केवल दस श्लोक हैं। एक स्थानपर सूरिजीने कहा, "हे देवी चक्रेश्वरी ! तुम चन्द्रमण्डलकी भाँति अन्धकारके समूहको ध्वस्त कर देती हो। भव्य प्राणीरूपी चकोरोंके सन्तापको दूर कर आनन्द प्रदान करती हो। सम्यग्दृष्टियोंको उत्तम सम्पत्ति देकर सुखी बनाती हो। तुम्हारे मुखका सौन्दर्य जीव-मात्रके मनको प्रसन्न बनानेवाला है।"[3]

श्री जिनप्रभसूरिने 'विविध तीर्थकल्प'में कुल्यपाकस्थ ऋषभदेवकी स्तुति की है, उसके अन्तिम श्लोकमें, देवी चक्रेश्वरीसे कल्याणकी याचना की गयी है। सूरिजीने कहा, "जो देवी गरुड़पर आरूढ़ हो संसारमें विचरण करती है, जो भगवान् ऋषभदेवरूपी रसाल वनकी कोयल है, सुन्दर चक्रको धारण करनेसे, जिसके हाथ सदैव सुशोभित होते रहते हैं और जिसके शरीरकी

---

१. जैन-स्तोत्रसमुच्चय : बम्बई, पाँचवाँ श्लोक, पृ० १४२।

२. अगरचन्द नाहटा, युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि : पृ० ५८।

३. श्रीचक्रेश्वरि चन्द्रमण्डलमिव ध्वस्तान्धकारोत्करं
भव्यप्राणिचकोरचुम्बितकरं संतापसंपद्धरम्।
सम्यग्दृष्टिसुखप्रदं सुविशदं कान्त्यास्पदं संपदां
पात्रं जीवमनःप्रसादजनकं भाति त्वदीयं मुखम् ॥ २ ॥
जिनदत्तसूरि, चक्रेश्वरीस्तोत्रम् : भैरवपद्मावतीकल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट २२, पृ० ९७।

कान्ति नये विद्रुमकी भाँति दमकती है, वह चक्रेश्वरी हमारा कल्याण करे।"[1]

४. देवी ज्वालामालिनी

रूपरेखा

ज्वालामालिनी आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभकी शासनदेवी हैं। ज्वालाकी मालाको धारण करने ही के कारण वे ज्वालामालिनी कही जाती हैं। उन्हें करालांगी भी कहते हैं। वह्निदेवी भी इन्हींका नाम है। इनका गात्र कुमुददलकी भाँति धवल है। उसपर चमकते उज्ज्वल आभरण सदैव शोभा पाते रहते हैं। देवीके आठ हाथ हैं, जिनमें वह क्रमशः त्रिशूल, पाश, झष, कोदण्ड, काण्ड, फल, वरद और चक्रको धारण करती है। देवीका वाहन महिष है।[2] यमराजकी पत्नीका भी वाहन महिष होता है। दोनोंमें बहुत कुछ समानता है।

महत्ता

पद्मावती और चक्रेश्वरीकी भाँति ही ज्वालामालिनी भी मन्त्रकी देवी कहलाती है। उसके मन्त्रोंसे व्यन्तरोंकी व्याधियाँ और दुष्टोंकी बाधाएँ दूर होती हैं। "दक्षिणके द्रविणाधीश्वर मुनि श्री हेलाचार्यकी शिष्या कमलश्री समस्त शास्त्रोंमें पारंगत थी, मानो श्रुतदेवीने ही अवतार ले लिया हो। एक बार वह किसी दुष्ट 'ब्रह्मराक्षस' से ग्रस्त हो गयी, उसकी दशा बिगड़ने लगी। कभी तो वह हा-हाकारके स्वरोंमें रोती, और कभी अट्टहासपूर्वक हँसती थी। कभी वेदोंका उच्चारण करते-करते ही कह-कहकी ध्वनिपूर्वक दाँत निकाल देती थी। कभी घमण्डपूर्वक कहती कि ऐसा कौन मन्त्री है, जो अपने मन्त्रकी शक्तिसे मुझे छुड़ा सके ? अपनी शिष्या-

---

१. आरुह्य खे चरति खेचरचक्रिणं या नाभेयशासनरसालवनान्यपुष्टा।
चक्रेश्वरी रुचिरचक्रविरोचिहस्ता शस्ताय साऽस्तु नवविद्रुमकायकान्तिः ॥४॥
जिनप्रभसूरि, कुल्यपाकस्थ ऋषभदेवस्तुति : विविधतीर्थकल्प : पृ० ९७।

२. कुमुददलधवलगात्रा महिषमहावाहनोज्ज्वलाभरणा।
मां पातु वह्निदेवी ज्वालामालाकरालाङ्गी ॥ २ ॥
जयताद्देवी ज्वालामालिन्युद्यत्त्रिशूल-पाश-झष-
कोदण्ड-काण्ड-फल-वरद-चक्रचिह्नोज्ज्वलाऽष्टभुजा ॥ ३ ॥
इन्द्रनन्दियोगीन्द्र, ज्वालिनीकल्प : प्रशस्ति (आदि भाग), जैन ग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह, दिल्ली; पृ० १३५।

को दुष्टग्रहसे प्रपीड़ित देखकर, मुनीन्द्र हेलाचार्य व्याकुल हुए और कुछ समयके लिए किंकर्त्तव्य-विमूढ़-से रह गये। फिर उन्होंने समीपस्थ नीलगिरिपर विधिपूर्वक वह्निदेवीकी साधना आरम्भ की। सात दिनके बाद देवीने दर्शन दिये और मुनिसे पूछा कि हे आर्य ! कहो तुम्हारा क्या कार्य है ? मुनिने कहा कि हे देवी ! 'कामार्थाद्यैहिकफलसिद्धि' के लिए मैंने आपका आमन्त्रण नहीं किया है, किन्तु इसलिए कि आप कमलश्रीको दुष्टग्रहसे मुक्त करें। देवीने उत्तर दिया कि आप खेद न करें, यह तो कोई बड़ा काम नहीं है। तदुपरान्त उसने मुनिको 'मृदुतर-आयासपत्र' पर लिखा हुआ एक मन्त्र प्रदान किया, और मुनिकी भक्तिसे प्रसन्न होकर मन्त्रको सिद्ध करनेवाली विद्या भी बतलायी। उसके अनुसार किसी नीरव स्थानपर मन्त्रका जाप करनेसे राक्षसकी बाधा उपशम हो गयी।[1]

कन्नड़ भाषाके प्रामाणिक ग्रन्थ मुनिवंशाभ्युदयकी (ई० सन् १६७२-१७०४) पाँचवीं सन्धिके ११६ वें पद्यसे विदित होता है कि श्री प्रभाचन्द्र मुनिने ज्वालामालिनी देवीकी साधना कर अनुपम ख्याति प्राप्त की, तथा नाना प्रकारसे जैनधर्मकी प्रभावना कर, धर्मकोउन्नत बनाया।[2] मुनि प्रभाचन्द्र ईसाकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् कहे जाते हैं।[3]

साहित्य

विद्यानुवाद नामके चौदहवें पूर्वमें ज्वालामालिनीकल्पकी भी रचना हुई थी। मुनि सुकुमारसेनके विद्यानुशासनमें जो चार कल्प निबद्ध हुए हैं, उनमें एक ज्वालामालिनीकल्प भी है। मुनि हेलाचार्य (वि० सं० ९९६ से पूर्व) ने भी देवीके आदेशानुसार एक 'ज्वालिनीमत' नामके ग्रन्थका निर्माण किया था।[4] इसका निर्माण-स्थल मलय देशका हेम नामक ग्राम माना जाता है। गुरु-परम्परासे चले आये इस ग्रन्थको आचार्य इन्द्रनन्दिने सुना और समझा। ग्रन्थ क्लिष्ट था, उसे सुगम बनानेके लिए आचार्यने उसी अर्थको ललित आर्या और गीतादि छन्दोंमें निबद्ध कर

---

१. देखिए वही : श्लोक ५–२०, पृ० १३५—३७।

२. जैन सिद्धान्तभास्कर : भाग १७, किरण १, पृ० ४७।

३. श्री पं० नाथूराम प्रेमीने 'कर्नाटक कवि चरित' द्वि० भा० के आधारपर प्रभाचन्द्रका समय १३वीं शताब्दी अनुमान किया है।
देखिए जैन-साहित्य और इतिहास : बम्बई, पृ० ३७८।

४. देव्यादेशाच्छास्त्रं तेन पुनर्ज्वालिनीमतं रचितम्।
इन्द्रनन्दियोगीन्द्र, ज्वालिनीकल्प : २२वाँ श्लोक, जैनग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह' दिल्ली, पृ० १३७।

दिया ।[१] श्री इन्द्रनन्दिका यह ग्रन्थ 'ज्वालिनीकल्प' के नामसे प्रसिद्ध है। ग्रन्थकी रचना मान्यखेटमें हुई जब कि राजा श्रीकृष्णका राज्य था। रचनाकाल शकसं० ८६१ (वि० सं० ९९६) माना जाता है।[२] मन्त्रशास्त्रोंके प्रसिद्ध विद्वान् श्री मल्लिषेणसूरिने अनेक कल्पोंके साथ-साथ 'ज्वालिनीकल्प' की भी रचना की थी। श्री मल्लिषेण, जिनसेनसूरिके शिष्य और कनकसेनके प्रशिष्य थे।[३] इनका समय ग्यारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध और बारहवींका पूर्वार्ध माना जाता है।[४]

पुरातत्त्व

'विविध तीर्थकल्प' के 'चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प' में लिखा है, "प्रभासमें ज्वालामालिनी देवतासे युक्त एक चन्द्रप्रभ भगवान्‌की मूर्त्ति है, जो चन्द्रकान्तमणिकी बनी हुई है, और जिसपर शशिका चिह्न स्पष्ट रूपसे अंकित है।"[५] जैन मन्दिर शिलालेख बिजौलियाके ७२वें श्लोकसे प्रकट है, "श्री सीयकके आनेपर उस कुण्डके बीचसे पद्मा, क्षेत्रपाल, अम्बिका, ज्वालामालिनी तथा सर्पाधिराज धारन निकले थे।"[६] यह शिलालेख चौहानराजा सोमेश्वरके राज्यकाल (वि० सं० १२२६) में, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर पार्श्वनाथकी प्रतिष्ठा तथा दानादिकी स्मृतिके लिए खुदवाया गया था।[७] देवगढ़के भग्न जिनमन्दिरोंमें-से एकके बाहरी बरामदेमें विराजमान चतुर्भुजा सरस्वतीकी, षोडश भुजा गरुड़वाहना चक्रेश्वरीकी, अष्टभुजा वृषभवाहना ज्वलामालिनीको एवं कमलासना पद्मावतीकी मूर्त्तियाँ अत्यन्त कलापूर्ण एवं चित्ताकर्षक हैं। इनमें-से एकपर वि०सं० १२२६

---

१. क्लिष्टग्रन्थं प्राक्तनशास्त्रं तदिति स (स्व) चेतसि निधाय ।
तेनेन्द्रनन्दिमुनिना ललितार्यावृत्तगीताद्यैः ॥२६॥
हेलाचार्योक्तार्थं ग्रन्थपरावर्त्तनेन रचितमिदम् ।
सकलजगदेकविस्मयजननं जनहितंकरं श्रुणुत ॥२७॥
देखिए वही : पृ० १३७ ।

२. देखिए वही : प्रशस्ति, अन्त भाग, ६,७ वाँ श्लोक, पृ० १३९ ।

३. मल्लिषेणसूरि, ज्वालिनीकल्प : जैन ग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह : अन्तिम भाग, २,३ श्लोक, पृ० १४९ ।

४. पं० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास : द्वितीय संस्करण, सन् १९५६, बम्बई, पृ० ३१५ ।

५. जिनप्रभसूरि, विविध तीर्थकल्प : पृ० ८५ ।

६. जैनसिद्धान्तभास्कर : भाग २१, किरण २, पृ० २७ ।

७. देखिए वही : पृ० १६ ।

खुदा हुआ है, सम्भव है ये चारों मूर्त्तियां एक ही कलाकारकी कृति हों।[1] पनागरमें खैरदैय्याके स्थानके पास ही अम्बिका, पद्मावती एवं ज्वालामालिनी-की मूर्त्तियाँ हैं और उनके मस्तकपर क्रमशः नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ-की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं।[2] मध्यकालमें देवी ज्वालामालिनीके कुछ चित्र सुन्दर वस्त्रोंपर चित्रित हुए थे। जैन तन्त्र-साहित्य भी वस्त्रोंपर ही अधिक मिलता है। तान्त्रिक पदोंकी परम्पराका विकास न केवल भारतमें हुआ, बल्कि तन्निकट-वर्त्ती तिब्बत और नेपालमें भी हो रहा था।[3]

भक्तिके कुछ उद्धरण[4]

देवीके स्मरण और दर्शनसे संसार वशमें हो जाता है—

त्वामेव बालारुणमण्डलाभं स्मृत्वा जगत्त्वत्करजालदीपम्।
विलोकते यः किल तस्य विश्वं विश्वं भवेद् वश्यमवश्यमेव ॥५॥
यस्तप्तचामीकरचारुदीपं पिङ्गप्रभं त्वां कलयेत् समन्तात्।
सदा मुदा तस्य गृहे सहेलं करोति केलिं कमला चलापि ॥६॥
यः श्यामलं कज्जलमेचकाभं त्वां वीक्षते चातुपधूमधूम्रम्।
विपक्षपक्षः खलु यस्य वाताहताभ्रवद् यात्यचिरेण नाशम् ॥७॥

जाप, होम और पूजा तो दूरकी बात है, जो केवल ध्यान-भर करता है, उसे सौभाग्यलक्ष्मी स्वयं वरण करती है—

पुष्पादिजापामृतहोमपूजा क्रियाधिकारः सकलोऽस्तु दूरे।
यः केवलं ध्यायति बीजमेव सौभाग्यलक्ष्मीर्वृणुते स्वयं तम् ॥१२॥
प्राप्नोत्यपुत्रः सुतमर्थहीन. श्रीदायते पत्तिरपीशते हि।
दुःखी सुखी वाऽथ भवेन्न किं किं त्वद्रूपचिन्तामणिचिन्तितेन॥१३॥

५. सच्चिया माता

परिचय

मध्यकालीन शिलालेखोंमें जिस सञ्चिका या सच्चिकाका उल्लेख है, वह ही सच्चिका कहलाती है। यह, हिन्दू देवी महिषासुरमर्दिनी या चामुण्डाका ही

१ जैनसिद्धान्तभास्कर : भाग २२, किरण १, पृ० १६।
२. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : पृ० १३८।
३. मुनि कान्तिसागर, खोजकी पगडण्डियाँ : पृ० ४०।
४. ज्वालामालिनीमन्त्रस्तोत्रम् : भैरवपद्मावतीकल्प : अहमदाबाद, परि-शिष्ट २५, पृ० १०४।

जैनरूप है। वि० सं० १२३७ के एक छोटेसे लेखसे प्रमाणित हो गया है कि, महिषासुरमर्दिनीका ही दूसरा नाम सच्चिका भी था[1], और ओसियांके वि० सं० १६६५ के एक शिलालेखके अनुसार चामुण्डाको ही सच्चिका कहते हैं। इसका रूप भयानक था। पशुओंकी बलिसे ही तृप्त होती थी।

सच्चियाकी भक्ति

विक्रमकी १३वीं शताब्दीके श्री रत्नप्रभसूरिजीने जैनोंको, देवीके मन्दिरमें जानेसे इनकार कर दिया था।[3] किन्तु जैन जनताने विनम्रतापूर्वक सूरिजीकी आज्ञाकी अवहेलना की। उसे डर था कि कहीं यह प्रबल देवी अपनी उपेक्षासे क्रोधित हो हमको और हमारे परिवारको ही नष्ट न कर दे।[4] भारतका जन-मन सदैव एकधारासे अनुप्राणित होता रहा है। चाहे वह जैन हो या हिन्दू। जैन मूर्त्तियोंके परिकरमें गणेशजीको बहुत पहले ही शामिल कर लिया गया था।[5] अम्बिकाके बायीं ओर प्रायः गणेशजीको लड्डू खाते हुए दिखाया जाता है।[6] जूनाके शिलालेखसे स्पष्ट है कि भगवान् आदिनाथके मन्दिरमें विघ्न-

---

१. जोधपुर संग्रहालयमें संगृहीत एक महिषासुरमर्दिनीकी श्वेत संगमरमरकी प्रतिमाके नीचे चौकीपर यह लेख उत्कीर्ण है।
जैनसिद्धान्तभास्कर : भाग २१, किरण १, पृष्ठ ४।

२. "चामुण्डा को सिचियाय करी रत्नप्रभसुरजी ने"
देखिए वही : पृष्ठ ५।

३. अतः आचार्येण प्रोक्तः भो यूयं श्राद्धा तेषां देवीनां निर्दयचित्ताया महिषबोत्कटादिजीववधास्थिभंगशब्दश्रवणकुतूहलप्रियया अविरतायाः रक्तांकितभूमितले आर्द्रचर्म्मबद्धवन्दनमाले निष्ठुरजनसेवितं धर्मध्यानविधायके महाबीभत्सरौद्रे श्रीसच्चिकादेवि गृहे गन्तुं न बुध्यते।
उपकेशगच्छ पट्टावली समुच्चय : भाग १, पृष्ठ १८७।

४. आचार्यवचः श्रुत्वा ते प्रोचुः—प्रभो, युक्तमेतत् परं रौद्रादेवीं यदि छलिष्यामस्तदा सा कुटुम्बान् मारयति।
देखिए, वही : पृ० १८७।

५. B. C. Bhattacharya, The Jain Icnography, Lahor, p. 181–82.

६. Ds. V. S. Agrawal, Mathura Museum catalogue, Part III, No. D7, p. 31–32.

मर्दन, क्षेत्रपाल और चामुण्डराजकी भी वन्दना जैनभक्तों-द्वारा प्रतिदिन की जाती थी।[1] नाडौलके वि० सं० १२२८ के लेखका प्रारम्भ "ओं स्वस्ति श्रियै भवन्तु वो देवाः ब्रह्मश्रीधरशङ्कराः। सदा विरागवन्तो ये जिनजगति लोके विश्रुताः" से हुआ है, और इससे सिद्ध है कि जैन-क्षेत्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी भी 'जिन' नामसे स्तुति की जाती थी।[2] अकलंकस्तोत्रमें[3] भी ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी वन्दना की गयी है, किन्तु अपनी दृष्टिसे। ठीक इसी प्रकार शिव-मन्दिरकी दीवालोंपर भी जैन तीर्थंकर और देवियोंकी मूर्तियाँ विराजमान हैं।[4] आज भी बंगाल और आसाममें भगवान् पार्श्वनाथको लाखों अजैन व्यक्ति पारस बाबा कहकर पूजते हैं।[5] जैनोंके अतिशय तीर्थक्षेत्रोंके महोत्सवोंमें अजैन जनता उत्साहपूर्वक भाग लेती है। फिर यदि जैन जनताने महिषासुरमर्दिनीकी भक्तिपूर्वक पूजा की तो वह भले ही श्रीरत्नप्रभसूरिकी आज्ञाके विरुद्ध हो किन्तु जन-मनकी परम्पराके अनुकूल ही थी। अन्तमें श्री रत्नप्रभसूरिने उस देवीको ही जैन-धर्ममें दीक्षित कर लिया। एक बार भूखी देवी श्री सूरिजीके पास आयी, और अपना भक्ष्य माँगा। सूरिजीने मिष्टान्नादि भेंट किये। किन्तु महिषोंके मांससे तृप्त होनेवाली देवीने मिष्टान्नको स्वीकार नहीं किया। सूरिजीके द्वारा प्रबोधित किये जानेपर देवी अहिंसक बन गयी।[6] कुछ भी हुआ हो; जैन-जनता देवीकी पूजा करती रही। यदि उसका रूप न बदलता, तो भी पूजती रहती। भक्त आराध्यके रूप-विशेषपर नहीं, किन्तु शक्तिपर विमोहित होता है।

सच्चियासे सम्बन्धित मन्दिर, शिलालेख और मूर्त्तियाँ

ओसियाँमें सच्चियया माताका मन्दिर है। ओसियाँ प्राचीन उपकेश या ऊकेश-का बिगड़ा हुआ रूप है। यह स्थान जोधपुरसे ३९ मील दूर है।[7] मन्दिर एक

---

१. यह शिलालेख मारवाड़ राज्यमें जूना नामक स्थानपर संवत् १३५२ का खुदा हुआ है।
देखिए, एपिग्राफिया इण्डिका : भाग ११, पृ० ५९–६०।
२. एपिग्राफिया इण्डिका : भाग ९, पृ० ६७–६८।
३. भट्टाकलंक, अकलंकस्तोत्र : बम्बई, २–४ श्लोक, पृ० १–३।
४. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : पृ०१२३।
५. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, भारतीय तत्त्वचिन्तन : पृ० ९२–९३।
६. उपकेशगच्छ पट्टावली समुच्चय : भाग १, पृ० १८७।
७. इसी नामका एक रेलवे स्टेशन जोधपुर-फलोदी-पोकरन लाइनपर स्थित है।

ऊँची पहाड़ीपर बना हुआ है। मन्दिरके गर्भगृहकी रचना बहुत प्राचीन है। श्री आर० डी० भण्डारकर इसे आठवीं शताब्दीका बतलाते हैं, किन्तु मन्दिर बारहवीं शताब्दीके मध्यसे अधिक पुराना नहीं है।[१] यह मारवाड़का एक पवित्र स्थान है। दूर-दूर तक उसकी ख्याति है। पालनपुर तकके दाक्षिणात्य, माताकी भक्तिमें खिंचे चले आते हैं। जैनोंमें ओसवाल जैन इस स्थानको बहुत मानते हैं। वे अपने बच्चोंका मुण्डन-संस्कार भी यहाँपर ही करवाते हैं। यह मान्यता चली आ रही है कि देवीके दर्शनार्थी उस स्थानको सूर्यास्तके पहले ही छोड़ दें, अन्यथा माता क्रुद्ध हो जायेगी। वहाँ एक रात भी ठहरा नहीं जा सकता।[२]

मन्दिरके गर्भ-गृहके पीछे एक शिलालेख लगा हुआ है, जो वि० सं० १२३४ चैत्र सुदी १० गुरुवारको उत्कीर्ण हुआ था। इसके अनुसार श्रद्धालु गयपालने चण्डिका, शीतला, सच्चिका, क्षेमंकरी और क्षेत्रपालकी मूर्त्तियोंकी रचना करवायी थी।[3] आज भी गर्भगृहके बाहरके तीन आलोंमें चामुण्डा, महिषासुरमर्दिनी और शीतलाकी मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। इसी मन्दिरमें एक दूसरा लेख वि० सं० १२३६ कार्त्तिक सुदी १, बुधवारका लिखा हुआ प्राप्त हुआ है। इसमें देवीका नाम सञ्चिका या सच्चिका स्पष्ट रूपमें अंकित है। इस शिलालेखके अनुसार उपके-

---

१. The basement moulding of the shrine (of saciyamata of osian) are undoultedly old but all other work is of a much later date—The temple of saciyamata, though originally perhaps as old as the 8th Century, The time when the Jaina Temple was built, can not be placed Earlier than the middle of the 12th century.
Archaeological survey of India, Annual report, 1908, 1909, Dr. R. D. Bhandarkar Edited, part II, p. 110.

२. देखिए वही : पृ० १०९।

३. संवत् १२३४ चैत्र सुदि १० गुरौ घोरवडांशुगोत्रेसाधु बहुदा सुतं साधु जाल्हण तस्य भार्या सूहवं तयोः सुतेन साधु माल्हा दौहित्रेन साधु गयपालेन सच्चिको देवि प्रासादकर्मणि चंडिका शीतला श्री सच्चिकादेवि क्षेमंकरी श्री क्षेत्रपाल प्रतिमाभिः सहितं जंघाघरं आत्मश्रेयार्थं कारितम्। पूर्णचन्द नाहर, जैनशिलालेख-संग्रह : भाग १, लेख-संख्या ८०५, पृष्ठ १९८।

शीयगच्छके एक सच्चिकादेवीके भक्त, राजसेवक गुहिलंग, क्रयविषयी, धारावर्षके द्वारा मन्दिरके गोष्ठिकोंके समक्ष यह व्यवस्था लिखायी थी कि प्रतिदिन भोजकोंके लिए मन्दिरका द्वार खुला रहना चाहिए, और उन्हें प्रतिदिन मन्दिरके कोष्ठागार-से मुगमा० १०, घृतकर्ष १, मिलना चाहिए।[1]

लोद्रवा नामके स्थानपर एक प्राचीन पार्श्वनाथका मन्दिर है, जिसमें गणेश प्रतिमाकी चौकीपर, वि० सं० १३३७ का एक लेख खुदा हुआ है, जिसके अनुसार अजमेर दुर्गमें सच्चिकादेवी और गणेशजीके साथ-साथ ५२ जिनबिम्बोंकी प्रतिष्ठा की गयी थी।[2]

जूना (मारवाड़) में भी सच्चिया माताका एक मन्दिर है। उसमें वि० सं० १२३७, फाल्गुन सुदी १०, मङ्गलवारके शिलालेखके अनुसार "उकेशगच्छकी एक पवित्र स्त्री थी, जिसका नाम सर्वदेवी था। संसारमें उसकी ख्याति थी। उसमें अनेक पवित्र गुण थे। उसकी शिष्या चरनमात्याका हृदय भी विशुद्ध था और उसने अपनी तथा दूसरोंकी भलाईके लिए सच्चिकाकी मूर्त्तिका निर्माण करवाया। ककुदसूरिके द्वारा उसकी प्रतिष्ठा हुई थी।[3]

जोधपुर संग्रहालयमें सच्चिकाकी एक खण्डित प्रतिमा है। मूर्त्तिका ऊपरी भाग नहीं है। दोनों टाँगें और दोनों पैर मौजूद हैं, तथा टाँगोंपर धोती पहनी

---

१. "संवत् १२३६ कार्तिक सुदि १ बुधवारे अद्येह श्रीकेल्हड़देव महाराज राज्ये तत्पुत्र श्री कुंमरसिंहे सिंहविक्रमे श्री माडव्यपुराधिपती—दमिकान्वीय कीर्त्तिपाल राज्यवाहके तद्भुक्तौ श्री उपकेशीय श्री सच्चिकादेवि देवग्रहे श्री राजसेवक गुहिलंगी क्रयविषयी धारावर्षेण श्री क सच्चिकादेवि गोष्ठिकान् भणित्वा तत्समक्ष तस्य व्यवस्था लिखापिता। यथा। श्री सच्चिकादेविद्वारं भोजकैः प्रहरमेकं यावदुद्घाट्य द्वारस्थितम् स्थातव्यम्। भोजक पुरुष प्रमाणं द्वादशवर्षीयोत्परः। तथा गोष्ठिकैः श्री सच्चिकादेवि कोष्ठागारात् मुगमा० १०। घृतकर्ष १ भोजकेभ्यो दिनं प्रति दातव्यः।"
वही : लेख-संख्या ८०४, पृ० १९८।

२. अजयमेरुदुर्गे गत्वा द्विपंचासत् जिनबिम्बानि सच्चिकादेवि गणपति सहितानि कारितानि प्रतिष्ठितानि।
पूर्णचन्द नाहर, जैनशिलालेख-संग्रह : भाग १, लेख-संख्या २५६५, पृ० १७२।

३. पुरुषोत्तमप्रसाद गौड़, प्राचीन शिलालेख संग्रह : जोधपुर, १९२४, पृ० २।

हुई है। टाँगोंके नीचे एक महिष है, जिसपर सिंह झपट रहा है, और उसने महिषकी पूँछको अपने मुँहमें पकड़ लिया है, परिणाम-स्वरूप भयके कारण उसकी लाल जिह्वा बाहरको निकल आयी है। इस प्रतिमाकी चौकीपर एक लेख खुदा हुआ है, जो जूनावाले लेखसे बिलकुल मिलता-जुलता है, यहाँतक कि शब्दावली भी प्रायः एक ही है। श्री रतनचन्दजी अग्रवालका अनुमान है कि—जोधपुर संग्रहालयकी यह मूर्त्ति किसी समय जूनाके मन्दिरमें विराजमान थी।[1]

डॉ० यू० पी० शाहके मतानुसार पश्चिमी भारतके कुछ मन्दिरोंमें आज भी महिषासुरमर्दिनीकी पूजा होती है। अभी सिंगोलीसे ९ धातु-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें एक महिषासुरमर्दिनीकी भी है। इसपर अंकित एक लघु लेखसे प्रमाणित है कि मध्यकालके जैन महिषासुरमर्दिनीके भी भक्त थे।[2]

६. देवी सरस्वती

देवीका बाह्य रूप

भारतके सभी धर्म और सम्प्रदाय सरस्वतीको मानते हैं। जैन भी अपवाद नहीं हैं। जैन-शास्त्रोंके अनुसार देवी सरस्वतीके चार हाथ होते हैं। दायीं ओरका एक हाथ अभयमुद्रामें उठा रहता है, और दूसरेमें कमल होता है। बायीं ओरके दो हाथोंमें क्रमशः पुस्तक और अक्षमाला रहती है। देवीका वाहन हंस है। देवीका वर्ण श्वेत होता है।[3] देवीके तीन नेत्र होते हैं, और उसकी जटाओंमें बालेन्दु शोभा पाता है।[4]

---

१. जैन सिद्धान्तभास्कर : भाग २१, किरण १, पृ० ४–५।

२. The Jain Antiquary, Vol XXI, No. I, June 1955, p. 19-20.

३. श्रुतदेवतां शुक्लवर्णां हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदकमलान्वितदक्षिणकरां पुस्तकाक्षमालान्वितवामकरां चेति।
भैरवपद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, ६० और ६१ पृष्ठके बीच सरस्वतीके चित्रके नीचे लिखित, निर्वाणकलिकासे उद्धृत।

४. अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी।
त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता॥
मल्लिषेण, सरस्वती-कल्प : भैरवपद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट ११, पृष्ठ ६१।

सरस्वतीके पर्यायवाची

सरस्वती शब्दकी व्याख्या करते हुए धनञ्जयनाममालाके भाष्यकार अमरकीर्त्तिने लिखा है, 'सरः प्रसरणमस्त्यस्याः सरस्वती', अर्थात् जो सबमें प्रसरण कर जाये वह सरस्वती है। सरस्वतीको भारती भी कहते हैं। भारतीका अर्थ है भरतकी पत्नी, और जो 'बिभर्त्ति जगद् धारयति' है वह ही भरत है, उसका दूसरा नाम ब्रह्मा भी है। इस भाँति साक्षात् ब्रह्माकी पत्नी ही सरस्वती कहलायी। इसी कारण उसको ब्राह्मी भी कहते हैं। सरस्वतीका दूसरा नाम 'गीः' है। गीः का अर्थ है, 'गीर्यते उच्चार्यंते रात्तं गीः', जो गायी जाये, जिसका उच्चारण किया जाये वह गीः है। 'चुरादि'के 'वण'से वाणीका निर्माण हुआ है। 'वण' शब्द करनेके अर्थमें आता है, इसीलिए उसे 'वण शब्दे' कहा गया है। उसकी व्युत्पत्ति 'वाण्यते वाणिः'के रूपमें प्रसिद्ध है। वाक्, वचन और वच भी वाणीके ही पर्यायवाची हैं।[1] अमरकोषमें कोषकारने सरस्वतीको ब्राह्मी, भारती, भाषा, गीः, वाक्, वाणी, व्याहार, उक्ति, लपितम्, भाषितम्, वचनम्, और वचः नामोंसे पुकारा है।[2]

सरस्वतीसे सम्बन्धित साहित्य

प्राकृत और संस्कृत, उभय भाषाओंके विद्वान् श्री मल्लिषेण सूरिने सरस्वती-कल्पकी भी रचना की थी। उन्होंने प्रशस्तिके प्रारम्भमें ही भगवान् अभिनन्दनकी वन्दना कर अल्पबुद्धियोंके लिए सरस्वती-कल्पके निर्माणकी प्रतिज्ञा की है।[3] उनकी स्पष्ट उक्ति है कि देवी सरस्वतीके प्रसादसे ही मैं इस भारती-कल्पको बना सकनेमें समर्थ हो पा रहा हूँ।[4] श्री विजयकीर्त्तिके 'सरस्वतीकल्प'की हस्तलिखित प्रति श्री पन्नालाल जैन सरस्वती भवन भूलेश्वर, बम्बईमें रखी हुई है, उसका

---

१. देखिए धनञ्जयनाममाला : कारिका १०४, भाष्य, पृष्ठ ५२।

२. अमरकीर्त्ति, अमरकोश : ३१२–१३वीं पंक्ति, पृ० ३७।

३. जगदीश जिनं देवमभिवन्द्याभिशङ्करम्।
वक्ष्ये सरस्वतीकल्पं समासायाल्पमेधसाम् ॥१॥
मल्लिषेण, सरस्वती मन्त्र-कल्प : भैरवपद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट ११, पृ० ६१।

४. लब्धवाणी प्रसादेन मल्लिषेणेन सूरिणा।
रच्यते भारतीकल्पः स्वल्पजाप्यफलप्रदः ॥
देखिए, वही : तीसरा श्लोक, पृ० ६१।

नं १६९५ दिया हुआ है। एक अर्हद्दासका बनाया हुआ भी सरस्वतीकल्प है। यदि ये अर्हद्दास पं. अर्हद्दास ही हैं तो उन्हें पण्डित आशाधरका समकालीन ही समझना चाहिए, जो वि. सं. १३०० में हुए थे। इस सरस्वतीकल्पकी सूचना अनेकान्त वर्ष १, पृष्ठ ४२८ पर प्रकाशित हो चुकी है। पं० आशाधरका लिखा हुआ सरस्वतीस्तोत्र तो प्रसिद्ध ही है। डॉ० बूल्हर के 'Collection of 1873–74' में सरस्वती पूजनकी एक हस्तलिखित प्रति संगृहीत है, जिसका नं. ६८९ है। डॉ० बूल्हरके संग्रह, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस वम्बईसे, १८८० में प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० पीटर्सनके 'Collection of 1886–92' में श्री ज्ञानभूषणकी लिखी हुई 'सरस्वती पूजा-स्तुति' भी निवद्ध है। उसका नं. १४९० है। इसमें संस्कृतके केवल १० श्लोक हैं। मानतुंग सूरिके प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्रकी पादपूर्ति करते हुए, श्री क्षेमकर्मके शिष्य श्री धर्मसिंहने 'सरस्वती भक्तामर स्तोत्र'की रचना की थी। यह स्तोत्र आगमोदय समिति, वम्बईसे १९२७ में प्रकाशित हो चुका है। जिला अहमदावादके लिमिडी नामके स्थानपर 'लिमिडी भण्डार'में ३५०० हस्तलिखित पुस्तकोंका संग्रह है, जो स्वर्गीय के. पी. मोदीके सतत परिश्रमका फल है। उसमें साधारण अंक १७३४ पर एक सरस्वती षोडशक सुरक्षित है, जिसके रचयिताका नाम नहीं दिया है। ग्रन्थ संस्कृतका है। इसी भण्डारमें अंक १०३१ पर देवी सरस्वतीसे सम्बन्धित एक दूसरी पुस्तक निवद्ध है, उसका नाम सरस्वती स्तवन है। इसके भी रचयिता और सन्-संवत्का कोई पता नहीं है। यह स्तवन डॉ आर. जी. भण्डारकरकी छठी रिपोर्ट अर्थात् 'Collection of 1887–91' में भी संगृहीत है।

मध्यप्रदेश और वरारके संस्कृत तथा प्राकृतके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची रायबहादुर हीरालालने तैयार की थी, जो सन् १९२६ में नागपुरसे प्रकाशित हो चुकी है। उसके पृष्ठ १८१ पर वप्पभट्टिका रचा हुआ 'सरस्वती-स्तोत्र' भी दिया है, जिसमें संस्कृतके १३ श्लोक हैं। इसे शारदा-स्तोत्र भी कहते हैं। वप्पभट्टसूरिका सरस्वती-कल्प, जिसमें १२ श्लोक हैं, भैरवपद्मावतीकल्प अहमदाबाद, परिशिष्ट १२, पृष्ठ ६९ पर प्रकाशित हो चुका है। एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगालके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी छपी हुई सूचीमें अंक ७३६४ पर किन्हीं विद्याविलासके 'सरस्वत्यष्टक' का उल्लेख हुआ है।[1] जयपुरके लुणकरजी पण्ड्याके ग्रन्थ-भण्डारमें वेष्टन नं० २३७ और २३८ में क्रमशः दो भिन्न-भिन्न

---

1. एच. डी. वेलङ्कर, श्री जिनरत्नकोश : पृ० ४२७।

सरस्वती-स्तोत्र बँधे हुए हैं। दोनों ही संस्कृतमें हैं। उनपर रचयिताका नाम और रचना-काल नहीं दिया है।[1] राजस्थानके जैन शास्त्र भण्डारोंकी चौथी ग्रन्थसूचीके अनुसार, जयपुरके पाटोडीके ग्रन्थ-भण्डारमें लघुकविका सरस्वती-स्तवन और कवि बृहस्पतिका सरस्वती-स्तोत्र रखा हुआ है। आमेर शास्त्र भण्डारके वेष्टन नं० १७७४ में श्रुतसागरकी सरस्वती-स्तुति निबद्ध है। तीनों ही की भाषा संस्कृत है। तीनों ही में सरसता और भक्तिका निर्वाह हुआ है।

जैन पुरातत्त्वमें देवी सरस्वती

श्रवणवेल्गोलसे एक मील उत्तरकी ओर जिननाथपुर है। इसे होयसल नरेश विष्णुवर्धनके सेनापति गंगराजने शक संवत् १०४०के लगभग बसाया था। यहाँ-की शान्तिनाथ बस्ति होयसल शिल्पकारीका बहुत सुन्दर नमूना है। इसकी मुख्य मूर्ति भगवान् शान्तिनाथकी है, जो साढ़े पाँच फ़ुट ऊँची है। इस बस्तिमें नारी चित्रोंकी संख्या ४० है, इनमें सरस्वतीका भी एक चित्र है।[2] सन् १९१६ में, बीकानेर राज्यकी तहसील नोहरके दक्षिण-पश्चिम पल्लू नामक ग्रामकी खुदाईमें डॉ० एल० पी० टेस्सिटोरीको दो जैन सरस्वती प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थीं। इनमें-से प्रथम राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्लीमें 'PL. 18' पर रखी हुई है। दूसरी बीकानेरमें सुरक्षित है। दोनों संगमरमरकी बनी हुई हैं। किन्तु दूसरी पहलीकी नक़ल-सी प्रतीत होती है। पहली प्रतिमाको डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने अपने लेख "भारतीय कला प्रदर्शनी" (हिन्दुस्तान, नव० ७,१९४८) में मध्यकालीन भारतीय शिल्पका एक मनोहर उदाहरण बताया है। मेरी दृष्टिमें यह केवल मध्यकालीन ही नहीं, अपितु समस्त कालोंके भारतीय शिल्पका अप्रतिम नमूना है। यह प्रतिमा सन् १९४८ में लन्दनके रायल एकादमीकी भारत प्रदर्शनीमें इंगलैण्ड गयी थी। विश्वके प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञोंने उसकी रमणीयता और सूक्ष्मता स्वीकार की है। पश्चिम और दक्षिण भारतके जैनोंने भी प्रचुर परिमाणमें सरस्वतीको मूर्त्त रूप दिया था। भद्रावतीसे १॥ मील दूर विजासन गुफाके बरामदेमें चार जैन तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंके साथ-साथ ही एक सरस्वतीकी प्रतिमा भी अवस्थित है। ये मूर्त्तियाँ १०वीं से १३वीं शताब्दीके मध्यकी हैं।[3] भट्टगिरिकी मल्लिनाथ बस्तीमें जैन तीर्थंकरोंके

---

१. राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थसूची : द्वितीय भाग, पृ० ५२–५३।

२. जैन शिलालेखसंग्रह : प्रथम भाग, भूमिका, पृ० ५०।

३. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरोंका वैभव : पृ० १२८–२९।

साथ-साथ सरस्वती और पद्मावतीकी भी मूर्तियाँ हैं।[१] सिरोही राज्यमें अजरी स्थानपर भगवान् महावीरके मन्दिरमें सरस्वती देवीकी भी मूर्ति विराजमान है। इसके सिंहासनपर वि. सं० १२१२ का एक शिलालेख खुदा हुआ है।[२] देवगढ़के खण्डहरोंमें-से एक जिन-मन्दिरके बरामदेमें चतुर्भुजी सरस्वतीकी मूर्ति अवस्थित है, जो कलापूर्ण और चित्ताकर्षक है।[३]

भक्तिके उद्धरण

पश्येत् स्वां तनुमिन्दुमण्डलगतां त्वां चाभितो मण्डितां
यो ब्रह्माण्डकरण्डपिण्डितसुधाडिण्डीरपिण्डैरिव।
स्वच्छन्दोद्गतगद्यपद्यलहरीलीलाविलासामृतैः
सानन्दास्तमुपाचरन्ति कवयश्चन्द्रं चकोरा इव ॥ ७ ॥[४]

सर्वाचारविचारिणी प्रतरिणी नौर्वाग्भवाब्धौ नृणां
वीणावेणुवरक्वणातिसुभगा दुःखाद्रिविद्रावणी।
सा वाणी प्रवणा महागुणगणा न्यायप्रवीणाऽमलं
शेते यस्तरणी रणीषु निपुणा जैनी पुनातु ध्रुवम् ॥ ४ ॥[५]

द्रव्यभावतिमिरापनोदिनीं तावकीनवदनेन्दुचन्द्रिकाम्।
यस्य लोचनचकोरकद्वयी पीयते भुवि स एव पुण्यभाक् ॥ ५ ॥
बिभ्रदङ्ककमिदं त्वदर्पितस्नेहमन्थरदृशा तरङ्गितम्।
वर्णमात्रवदनाक्षमोऽप्यहं स्वं कृतार्थमवयामि निश्चितम् ॥ ६ ॥[६]

---

१. Annual Report of the Archaeological Survey of Mysore, 1918, Banglore 1919, p. 6.

२. Sitaram, History of Sirohi Raj from the earliest times to the present day, Allahabad, 1920, p. 45

३. प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन, देवगढ़ और उसका कलावैभवः जैन सिद्धान्त भास्कर : भाग २२, किरण १, पृ० १६।

४. बप्पभट्टसूरि, सरस्वती-कल्प : भैरवपद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट १२, पृष्ठ ६९।

५. साध्वी शिवार्या, सिद्धसारस्वतस्तव : भैरवपद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट १३, पृ० ७९।

६. जिनप्रभसूरि, श्रीशारदास्तवनम् : भैरवपद्मावती-कल्प : अहमदाबाद, परिशिष्ट १४, पृ० ८१।

धीदायिनि नमस्तुभ्यं ज्ञानरूपे ! नमोऽस्तु ते ।
सुरार्चिते ! नमस्तुभ्यं भुवनेश्वरि ! ते नमः ॥ ९ ॥
कृपावति ! नमस्तुभ्यं यशोदायिनि ! ते नमः ।
सुखप्रदे ! नमस्तुभ्यं नमः सौभाग्यवर्द्धिनि ॥ १० ॥[1]

७. देवी कुरुकुल्ला

कुरुकुल्लाकी कथा

उपदेश सप्ततिकामें कुरुकुल्लासे सम्बन्धित एक कथा उपन्यस्त हुई है, जो इस प्रकार है,

भृगुकचछमें श्रीदेवसूरिके पास एक कान्हड़ नामका योगी ८४ सर्पोंकी पिटारी लेकर आया और सूरिजीसे कहा कि मेरे साथ विवाद करो, अथवा सिंहासन छोड़ो । गुरुने कहा कि किसके साथ ? उसने उत्तर दिया कि मेरे पास सर्प हैं । प्रभुने आसनके ऊपर बैठे-बैठे ही खड़ियासे सात रेखाएँ खींच दीं । योगीने अपने भयंकरसे-भयंकर सर्पोंको छोड़ा किन्तु कोई भी, छठी रेखाको पार न कर सका । अन्तमें उसने 'सिन्दूरक' नामके सर्पको सामना करनेके लिए मुक्त किया। सिन्दूरक को दूसरा यमराज ही समझना चाहिए। उसने जिह्वासे रेखाओंको भग्न कर दिया और सिंहासनके पायोंपर चढ़ना आरम्भ किया । गुरु ध्यानस्थ हो गये । भक्तजन हाहाकार करने लगे । इसी मध्य किसीने योगीके दो सर्पोंको उड़ा दिया । ऐसा देखकर योगी दीनवदन हो गया । उसने गुरुके चरणोंमें प्रणाम कर कहा कि हे प्रभो ! सर्प ही मेरा जीवन है, बतलाइए मेरे सर्प कहाँ गये ? प्रभुने कहा, वे तो नर्मदाके किनारे क्रीड़ा कर रहे हैं । रात्रिमें गुरुके पास कुरुकुल्ला देवी आकर बोली, मुझे पहचानो । गुरुने उत्तर दिया, तुम कुरुकुल्ला हो । देवीने कहा, "मैंने ही सर्पोंको विलीन किया था । मैंने चार मास तक सामनेके वटवृक्ष-पर आरूढ़ होकर आपका व्याख्यान सुना है । इस उपलक्ष्यमें मैंने सोचा कि योगी-के पिटारेको सर्पोंसे रिक्त ही कर दूँगी, किन्तु जन-कौतुकके लिए मैंने ऐसा नहीं किया ।" गुरुने देवीकी स्तुतिमें एक काव्य पढ़ा, जिसे सुनकर देवीने कहा, "इसे तो भाण्डागारमें रखें, किन्तु प्रातः ही इस शालाके द्वारपर मेरी स्तुतिमें लिखे हुए तीन काव्य मिलेंगे । जो कोई उन्हें पढ़ेगा वह कभी भी सर्पोपद्रवसे प्रपीड़ित नहीं होगा ।"[2]

---

१. देवी स्तोत्रम् : देखिए वही : परिशिष्ट १५, पृ० ८२ ।
२. श्रीमत्सोधर्मगणि, उपदेशसप्ततिका : आरासणातीर्थवृत्तान्त : आत्मानन्द सभा, भावनगर, पृष्ठ ३८ ।

इस उपर्युक्त कथासे स्पष्ट है कि कुरुकुल्ला तान्त्रिक युगकी देन है। वह सर्पोंकी देवी है। मन्त्रसे उसका सीधा सम्बन्ध है। गुरुदेवसूरिकी मन्त्रशक्ति ऐसी प्रवल थी कि बड़े-बड़े भयंकर सर्प भी उनका सामना न कर सके। यह शक्ति देवी कुरुकुल्लाकी कृपासे ही सुरक्षित रह सकी।

देवी कुरुकुल्लाकी भक्ति

वानरों और कच्छपोंको कमल बना देना, व्यालपालीको मालती लता कर देना, दावाग्निको तुहिनकणोंमें बदल देना और ग्रीष्मकालको माघ बना देना देवीके लिए बहुत आसान है। उसने न जाने कितनी बार सूर्यके प्रचण्ड तापको चन्द्रकी शीतलतामें, समुद्रके खारे पानीको दूधमें और विषको अमृतमें परिवर्त्तित किया है। देवी अपने भक्तोंकी विषमताओंको उपशम करती है, और भक्त उसको माताका प्रसाद समझता है।[1]

देवी कुरुकुल्लाकी उदारता प्रसिद्ध है। एक बार नाम सुनना-भर ही पर्याप्त है। देवीके पवित्र नाममें इतनी शक्ति है कि उसके श्रुति-पथमें आते ही, विषमसे विषम आपत्ति तुरन्त नष्ट हो जाती है। वह कुरुकुल्ला देवी तीनों लोकोंमें पूज्य है। उसका दर्शन मनुष्यको लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकारकी सम्पत्ति वितरित करनेमें समर्थ है।[2]

देवी कुरुकुल्लापर जमा ध्यान कभी व्यर्थ नहीं गया। ध्यान लगाते ही जलती ज्वालाकी भाँति तेजस्वी और मृगेन्द्रकी भाँति उद्दाम संग्राम-शत्रु, नाशको प्राप्त हो जाता है। यदि किसीने देवीकी अभ्यर्चना कर ली, फिर तो उसका

---

१. कमलति कपिकच्छुर्मालति व्यालपाली
तुहिनति वनवह्निर्माघति ग्रीष्मकाल:।
शिशिरकरति सूर: क्षीरति क्षारनीरं
विषममृतति मातस्त्वत्प्रभावेन पुंसाम्॥ २॥
श्रीदेवसूरि (११वीं, १२वीं शती) कुरुकुल्लादेवी-स्तवनम्: जैन स्तोत्र-समुच्चय: पृष्ठ २३१।

२. श्रुतिपथगतमुच्चैर्नाम यस्या: पवित्रं
विषमतमविषार्त्तिं नाशयत्येव सद्य:।
त्रिभुवनमहिता सा सम्मुखीभूतदेवी
वितरतु कुरुकुल्ला सम्पदं मे विशालाम्॥
देखिए वही: चौथा श्लोक, पृ० २३२।

विकास चारों ओरसे होता है। धन, पुत्र, स्वास्थ्य और अन्य सौभाग्य द्रुतगतिसे आते हैं।[1]

देवीके एक बार प्रसन्नतापूर्वक देख लेनेसे ही भक्त सब कुछ पा जाता है। वह एक ओर श्रुतका पारगामी विद्वान् बन जाता है, तो दूसरी ओर देश-परदेश जीतकर विश्व-लक्ष्मीका उपभोग करता है। विद्वत्ता और साम्राज्य-लक्ष्मीका समन्वय देवीके एक कटाक्षमात्रसे ही सम्भव है।[2]

देवीकी शक्ति महान् है। सुभटोंके हाथोंमें चमकते शस्त्र, देवीकी अपार शक्तिसे ही सञ्चालित होते हैं। देवीकी भक्तिमें तल्लीन राजाओंकी ताक़त, मन्त्रकी भाँति अजेय बन जाती है। दुनियामें राजा तो बहुत होते हैं, किन्तु उनमें देवीके वरदानको पानेवालोंकी ही शक्ति अक्षयरूप धारण कर पाती है। देवीकी महिमाको कोई कह नहीं सकता। देवी अग्निकी महाप्राण-शक्तिका साक्षात् रूप है। देवीका यह तेज बाहरी नहीं, किन्तु आभ्यन्तरिक है, विशुद्ध आत्मासे फूटा है, अतः अमर है। हम उसे जैनेन्द्र-शक्ति कहते हैं। वह त्रिलोकके द्वारा पूज्य है।[3]

सम्पूर्ण इन्द्रियोंका निरोध कर जो व्यक्ति 'महोद्योतरूपा' देवीका अपने पवित्र मनमें ध्यान करता है, उसका जाड्यान्धकार अर्थात् अज्ञानका तमस् विलीन हो

---

१. ज्वलनजलमृगेन्द्रोद्दामसंग्रामशत्रु-
प्रभृतिकमपयाति त्वद्गतध्यानमात्रात्।
धनतनयशरीरारोग्यसौभाग्यभाग्या-
दिकमुपचयमेत्यभ्यर्चनात् तावकीनात्॥
देखिए वही : ५वाँ श्लोक, पृ० २३२।

२. कियति महति दूरे त्वन्नतानां श्रुतश्रीः
कथमिव दुरवापा तैर्जगज्जैत्रलक्ष्मीः।
असुलभमिह किंवा वस्तु तेषां समस्तं
त्रिभुवनजननि! त्वं वीक्षसे यान् प्रसन्ना॥
देखिए वही : ६ठा श्लोक, पृ० २३२।

३. सुभटकरतले त्वं शस्त्ररूपाऽसि शक्ति-
स्त्वमवनिपतिपुञ्चैर्देवि! मन्त्रादिशक्तिः।
किमपरमनिलादौ त्वं महाप्राणशक्तिः
सकलभुवनपूज्या त्वं च जैनेन्द्रशक्तिः॥
देखिए वही : ७वाँ श्लोक, पृ० २३२।

जाता है। और चारों ओरसे केवलज्ञान-लक्ष्मीका उदय होता है। केवलज्ञान प्राप्त करना ही जैन-साधकका ध्येय है और यह ज्ञान देवीकी भक्तिसे सहजमें उपलब्ध हो जाता है।[1]

'कुरुकुल्लादेवी-स्तवनम्'के रचयिता श्री देवसूरिका जन्म सं० ११४३ और मृत्यु सं० १२२६ माना जाता है।[2]

८. अन्य देवियाँ

उपर्युक्त देवियोंके अतिरिक्त, तीर्थंकरकी माता, अन्य बीस शासन देवियाँ,[3] छह दिक्कुमारिकाएँ[4], लक्ष्मी और सोलह विद्यादेवियोंकी[5] पूजा-स्तुति भी होती रही है। उनकी मूर्तियाँ भी बनी हैं और मन्दिर भी।

---

१. सकलकरणरोधाद् ध्यानलीनस्य पुंसः
स्फुरसि मनसि यस्य त्वं महोद्योतरूपा।
सपदि विदलयन्ती तस्य जाड्यान्धकारं
समुदयति समन्तात् केवलज्ञानलक्ष्मीः॥
देखिए वही : ९वाँ श्लोक, पृ० २३२।

२. फतेहचन्द बेलानी, जैनग्रन्थ और ग्रन्थकार : बनारस, पृ० १८।

३. रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रांकुशा, अप्रतिचक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, मनोवेगा, महाकाली, गौरी, गान्धारी, वैरोटी, सोलसा, अनन्तमती, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपिणी और सिद्धायनी।
यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : प्रथम भाग, ४।९३७--३९, पृ० २६७।

४. श्री, ह्री, धृति, कीर्त्ति, बुद्धि और लक्ष्मी।
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र : ३।१९, पृ० ७३।

५. रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रांकुशा, अप्रतिचक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गन्धारी, सर्वास्त्रमहाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी और महामानसी।
बी० सी० भट्टाचार्य, जैन इक्नाग्राफी : लाहौर, पृ० १६४।

: ५ :

उपास्य देव

जैनोंमें पंचपरमेष्ठीके अतिरिक्त अन्य देवताओंकी भी पूजा-स्तुति होती रही है, ऐसा ऐतिहासिक प्रमाणों और उनके भक्ति-परक साहित्यसे प्रमाणित है। उसे दिखानेका ही प्रयास आगामी पृष्ठोंपर होगा।

१. यक्ष

जैन शास्त्रोंके अनुसार देवोंके चार भेद हैं, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। यक्ष व्यन्तरोंकी उपजाति है। वे रत्नप्रभा पृथ्वीके खरभागमें रहते हैं।[१] उनकी आयु अधिकसे-अधिक एक पल्य और कमसे-कम दस सहस्र वर्ष होती है। वे दिव्य एवं अमृतमय आहारका मनसे ही उपभोग करते हैं। उनके कवलाहार नहीं है। उनकी ऊँचाई दस धनुष प्रमाण होती है। वे विक्रिया ऋद्धिसे युक्त और अवधिज्ञानके धारी होते हैं। इनमें अपरिमित शक्ति होती है। एक पल्यकी आयुका यक्ष अपनी भुजाओंसे छह खण्डोंको उलट सकता है। उन छह खण्डोंमें रहनेवाले व्यक्तियोंको मारने और पालनेकी सामर्थ्य भी उनमें है। यक्ष जातिके दो इन्द्र, प्रत्येक इन्द्रके दो रानियाँ, और प्रत्येक रानीके २००० बल्लभिकाएँ होती हैं।[२] यक्ष जिनेन्द्र-प्रासादोंमें विराजित जिनेन्द्र-प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं। वे जिनेन्द्रके विशिष्ट भक्त कहे जाते हैं, अतः जैनोंके मध्य उनकी पूजा, उपासना भी प्रचलित रही है। आराध्यके भक्तोंकी भक्ति, पुरातत्त्व, इतिहास तथा साहित्यसे भली भाँति सिद्ध है।

यक्षोंके भेद

तिलोय पण्णतिमें यक्षोंके १२ भेद माने गये हैं—मणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र, मानुष, धनपाल, स्वरूपयक्ष, यक्षोत्तम और मनोहरण।[३] अभिधान-राजेन्द्रकोशमें यक्षोंके १३ प्रकार लिखे हैं—पुन्नभद्द,

---

१. पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि. सं. २०१२,४।११, पृ. २४३–४४।

२. यतिवृषभ, तिलोय-पण्णत्ति : भाग २, ६।३३–९८।

३. देखिए, वही : ६।४२।

मनिभद्द, सेयभद्द, हरीभद्द, सुमतोभद्द, व्यतिपतिकाभद्द, सुभद्द, सर्वतोभद्द, मानुष्य यक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपजक्ख और जक्खोत्तम।[1]

यक्ष-महत्ता

यक्ष अपने भक्तोंको सदैव सहायता करते हैं। राजगृहकी एक मनोरम वाटिकाके पास, मुद्गरपाणि नामके यक्षका चैत्य था, जिसमें लोहेका मुद्गर लिये हुए यक्षकी सुन्दर प्रतिमा थी। अर्जुनक माली प्रतिदिन सुन्दर फूलोंसे यक्षकी पूजा-भक्ति करता था। यक्षने भी अर्जुनककी सहायता की, और वह ललिता नामकी गुण्डोंकी टोलीसे अपने तीव्र अपमानका प्रतीकार कर सका। इसी यक्षने, भगवान् महावीरके दर्शनोंको जा रहे सुदर्शन सेठके मार्गविरोधोंको दूर किया था।[2] भगवान् जिनेन्द्रकी भक्ति करनेवाला, यक्षकी सहायतासे कभी वंचित नहीं होता। यक्ष स्वयं जिनेन्द्रका भक्त होता है। आवश्यक निर्युक्तिमें लिखा है कि बिहिलग नामके यक्षने भगवान् महावीरकी पूजा-स्तुति की थी।[3]

उत्तराध्ययन सूत्रसे विदित है कि बनारसके गन्दीतिन्दुम नामका यक्ष, तिन्दुम बागमें, मातंग नामके एक बहुत बड़े साधुकी सदैव रक्षा किया करता था।[4] नाया-धम्मकहामें लिखा है कि सेलग नामका अश्वरूपधारी यक्ष अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमाकी रातमें दुःखी मनुष्योंकी सहायता करता था। एक बार उसने चम्पाके दो व्यापारियोंकी एक क्रूरहृदया देवीसे रक्षा की थी।[5]

श्रावस्तीमें भगवान् संभवनाथके जिन-मन्दिरके वज्रमयी कपाटोंको खोलना और मूँदना साधारण जनके हाथकी बात नहीं थी। यक्ष मणिभद्र सूर्योदयके साथ ही उसे खोल देता था और सूर्यास्तके होते ही बन्द कर देता था।[6] मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्ष जातिके इन्द्र कहे जाते हैं। ईसासे ३०० वर्ष पूर्वकी एक मणिभद्रकी

---

१. अभिधान राजेन्द्रकोश : देखिए 'जक्ख' शब्द।

२. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, दो हज़ार वर्ष पुरानी कहानियाँ : पृ० १६७।

३. आवश्यक निर्युक्ति : मानिक्य शेखर, सूरत, १९३९, पृ० ४८७।

४. उत्तराध्ययन सूत्र : १२, भाष्य, पृ० १७३।

५. णायाधम्मकहा : आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९, अध्याय ९, पृ० १२७।

६. जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प : सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, वि. सं. १९९०, पृ० ७०।

मूर्ति, मथुराकी खुदाइयोंमें प्राप्त हुई है।[1] उस समय मथुरा यक्ष-पूजाका केन्द्र था।

यक्ष-पूजा

यक्ष-पूजाको लेकर जाति, सम्प्रदाय और सभी प्रकारके धर्म-भेद समाप्त हो जाते थे। यक्षकी पूजा हर कोई करता था, चाहे वह जैन हो, बौद्ध अथवा हिन्दू। आगे चलकर यक्ष भी धर्मविशेषसे सम्बन्धित होने लगे। मणिभद्रको जैन, वज्रपाणिको बौद्ध और कुबेरको हिन्दू माना जाने लगा। किन्तु जन-समुदायने इस भेदको कभी स्वीकार नहीं किया। वे यक्षमात्रको गाँवका संरक्षक मानते थे। यक्षोंने भी बिना किसी भेद-भावके जन-दुःखोंका निवारण किया।

पिण्ड-निर्युक्तिमें लिखा है कि—समिल्लनगरके बाहर एक वाटिकामें जैन यक्ष मणिभद्रका चैत्य था, जिसके साथ एक सभाभवन भी बना हुआ था। एक बार उस नगरमें चेचकोंका प्रकोप हुआ, सभी व्यक्तियोंने मिलकर यक्षकी पूजा की, फलस्वरूप कुछ समयमें ही बीमारी शान्त हो गयी।[2] विवागसूयमें एक निःसन्तान स्त्री गंगदत्ताका उल्लेख आया है। वह सुगन्धित पुष्प, पटोरा वस्त्र और बेशक़ीमती जेवरोंको लेकर उम्बरदत्त यक्षके चैत्यमें गयी। मयूरपिच्छोसे यक्ष-मूर्तिकी धूलिको दूर किया, निर्मल जलसे नहलाया और वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित किया तथा पुष्पोंसे अर्चना की। उसे पुत्र प्राप्त हुआ।[3]

कपर्दि यक्षका मुख्य निवास शत्रुंजय पहाड़पर है। वहाँ जानेवाले यात्री-संघ उसकी पूजा-अर्चा करते हैं, और वह उनके विघ्नोंको दूर कर देता है। तीर्थंकर नेमिनाथके आदेशसे वासुदेव कृष्ण शत्रुंजय पर्वतकी गुफामें कपर्दि यक्षकी पूजा करते हुए आठ दिन तक ठहरे थे।[4]

आचार्य यतिवृषभने सनत्कुमार यक्षोंकी मनोहर मूर्तियों और अष्ट द्रव्य मंगलसे

---

१. डॉ० नलिनाक्षदत्त, उत्तर प्रदेशमें बौद्ध धर्मका विकास, पृ० २८३, पा. टि. १।

२. पिण्डनिर्युक्ति : पृ० २४५. डॉ० जगदीशचन्द्रकी 'Life in Ancient India as depicted in Jain Canons' से उद्धृत, पृ० २२१।

३. विवागसूय : बड़ौदा, १९२२, पृ० ४२।

४. जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प : ११४–९५।

उनकी पूजा-अर्चाकी बात लिखी है।[१] वसुदेवहिण्डीमें भी यक्ष-प्रतिमाओं और उनकी पूजाका उल्लेख है।[२] मन्दिरोंसे प्राचीन थे चैत्य। चैत्य यक्षोंके आवास गृह थे। वहाँ उनकी भक्ति की जाती थी।

२. धरणेन्द्र

चौबीस तीर्थंकरोंके २४ शासनदेव और चौबीस शासन देवियाँ होती हैं। तीर्थंकरके शासनकी सतत उन्नति करते रहनेके कारण उन्हें शासनदेव कहते हैं। तीर्थंकर पार्श्वनाथके शासनदेवका नाम धरणेन्द्र है। आचार्य हेमचन्द्रने उसे धारन कहा है।[३] वह पार्श्व यक्ष भी कहलाता है।[४] यहाँ यक्ष शब्दका प्रयोग 'जिनशासनकी रक्षा' करनेके अर्थमें हुआ है।[५]

जैन शास्त्रोंके अनुसार धरणेन्द्र नागकुमारोंके दक्षिणी भागका राजा है।[६] श्री भावदेवसूरिने 'पार्श्वनाथचरित्र'में धरणेन्द्रकी रूपरेखाका वर्णन किया है, "भगवान् पार्श्वनाथके तीर्थमें उत्पन्न होनेवाला पार्श्व यक्ष कृष्णवर्ण और चार भुजाओंको धारण करता है। उसके सिरपर सदैव कोबरा सर्पोंका छत्र लगा रहता है। उसका मुँह हाथी-जैसा और वाहन कच्छप है।[७]" इसी धरणेन्द्रने तीर्थंकर पार्श्वनाथकी असुर भूतानन्दके भीषण उपसर्गोंसे रक्षा की थी।[८] अपने महिमावन्त कार्योंके कारण ही धरणेन्द्रको मोक्ष प्राप्त हुआ था।[९]

धरणेन्द्रको भैरव भी कहते हैं। 'भैरवपद्मावती-कल्प' धरणेन्द्रको भैरव मानकर ही चला है। देवी पद्मावती भैरवी कहलाती हैं। किसी शास्त्रीय प्रमाणके न होते हुए भी परम्परा दोनोंको पति-पत्नीके रूपमें मानती आयी है। देवी

---

१. तिलोयपण्णत्ति : भाग दूसरा, ७।४८–४९, पृ० ६६४।
२. 'चित्तकम्मलिहिया विव जक्ख पडिमा एक्कचित्ता अच्छइ' वसुदेवहिण्डी, आत्मानन्द सभा, भावनगर, पृ० ७२।
३. आचार्य हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि : १।४५।
४. यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : भाग १, ४।४३६।
५. श्रीमद्वादिराजसूरि, श्री पार्श्वनाथचरित्र : १२।४२, पृ० ४१५।
६. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि : ४।६ का भाष्य, पृ० २४०।
७. The life and stories of the Jain Savior Parcwanatha by Maurice Bloomfield, 3, p. 166-67.
८. आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण : ७३।१३९–१४०।
९. श्रीमद्वादिराजसूरि, पार्श्वनाथचरित्र : पृ० ४१५, श्लोक ४१ वाँ।

पद्मावती मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवी कही जाती है, जब कि धरणेन्द्र अधिष्ठातृ देव। मन्त्रके क्षेत्रमें दोनों ही की विपुल ख्याति है। ऐसा कहा जाता है कि "ॐ ह्रों पार्श्वयक्ष दिव्य रूप महर्षण एहि एहि आं क्रौं ह्रीं नमः" मन्त्रका दस-लाख बार जाप करनेसे वटवृक्षके नीचे रहनेवाला, कृष्णवर्ण और तीन नेत्रवाला पार्श्वयक्ष सिद्ध हो जाता है। यह यक्ष अपनी मायामय सेनाके द्वारा शत्रुकी बड़ीसे-बड़ी सेनाको क्षणमात्रमें समाप्त कर सकता है।[१]

जैनोंने पद्मावतीके साथ धरणेन्द्रकी भी भक्ति की है। भद्रबाहु स्वामीके 'उवसग्गहर स्तोत्त'का प्रारम्भ धरणेन्द्रकी स्तुतिसे ही हुआ है। पद्मावतीसे सम्बन्धित जैन-साहित्य और पुरातत्त्व धरणेन्द्रसे भी सम्बन्धित है, अतः उसका पृथक् उल्लेख पिष्टपेषण मात्र ही होगा। मुनि कान्तिसागरने लिखा है कि—यक्षोंकी मूर्तियोंमें, 'पार्श्वयक्ष'को पहचाननेमें प्रायः लोग भूल कर जाते हैं, उसका कारण है कि पार्श्वयक्षकी मुखाकृति, उदर और आयुध आदि सभी कुछ गणेशके समान होता है। फिर भी उनका व्यक्तित्व निराला है और कुछ विशिष्ट चिह्नोंसे स्पष्ट प्रकट हो जाता है।[२]

३. इन्द्र

वैमानिक देवोंके राजाको इन्द्र कहते हैं। विमानोंमें रहनेवाले देव वैमानिक कहलाते हैं। विमानोंके तीन भेद हैं—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक। अन्य विमानोंके मध्यमें रहनेवाले विमानको इन्द्रक, उसकी चारों दिशाओंमें कतारबद्ध स्थित विमानोंको श्रेणीबद्ध और यत्र-तत्र पुष्पोंकी भाँति बिखरे विमानोंको पुष्पप्रकीर्णक कहते हैं।

वैमानिक देवोंके दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। सोलह स्वर्ग कल्प हैं, क्योंकि उनमें इन्द्रकी कल्पना है, और उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि कल्पातीत कहलाते हैं, उनमें इन्द्रकी कल्पना नहीं है। सोलह स्वर्गोंमें-से, पहले और अन्तिम चार स्वर्गोंमें एक-एक तथा मध्यके आठ स्वर्गोंमें दो-दोके एक-एक इन्द्रकी मान्यता है।[३]

तीर्थंकरके भक्तोंमें इन्द्रका सर्वोत्तम स्थान है। तीर्थंकरके गर्भमें आनेसे छह माह पूर्व ही रत्नोंकी वर्षा, जन्मके समय एक सहस्र आठ कलशोंसे स्नपन और

---

१. मल्लिषेणसूरि, भैरवपद्मावती-कल्प : सूरत, ३।३९-४०, पृ० २२-२३।
२. खण्डहरोंका वैभव : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० ४२।
३. सर्वार्थसिद्धि : ४।१६-१९।

केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर समवशरणकी रचना, इन्द्रकी तीर्थंकर-भक्तिके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैन-काव्योंमें भक्तिके ये दृष्टान्त भावोन्मेषके साथ प्रकट किये गये हैं। जैन पुरातत्त्वमें भी तीर्थंकरकी मूर्त्तियोंके साथ, चँवर ढोरते हुए इन्द्र और इन्द्राणियोंके चित्र अंकित हैं। विन्ध्यगिरिके गोम्मटेशके अभिषेकके लिए, हाथमें कलश लिये हुए इन्द्रकी मूर्ति है।[1]

इन्द्रकी पूजा

बहुत पुराने समयसे जैन लोग इन्द्रकी भक्तिमें इन्द्रमहोत्सव मनाते चले आ रहे हैं। निशीथचूर्णिमें चार बड़े उत्सवों (महामहों) का उल्लेख है और वे इन्दमह, खण्डमह, जक्खमह तथा भूयमहके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्दमह आषाढ़की पूर्णमासीकी रातमें मनाया जाता था।[2] उत्तराध्ययनके भाष्यमें लिखा है कि काम्पिल्यका राजा दुमुह इन्द्रमहोत्सव धूम-धामसे मनाता था। यह उत्सव आषाढ़ पूर्णमासीके सात दिन पहलेसे प्रारम्भ हो जाता था। पूर्णमासीके दिन राजा इन्द्रके झण्डेकी वन्दना करता था। राजाकी ओरसे अतुल दान और भोज भी दिया जाता था।[3] बृहत्कल्प भाष्यके अनुसार हेमपुर भी इन्द्रमहोत्सवके लिए एक प्रसिद्ध स्थान था। वहाँ 'इन्दत्थान'के चारों ओर कुलीन वंशोंकी पाँच-सौ कन्याएँ हाथोंमें फूल और बालियोंको लेकर एकत्रित होती थीं और सभी इन्द्रसे अपने सौभाग्यकी याचना करती थीं।[4] पोलसपुरके इन्द्रमहोत्सवमें नारियोंके लचकीले गातसे फूटते नृत्य और गुलाबी अजरोंके मादक स्वर एक अनूठा समाँ उत्पन्न करते थे। वहाँ किसी कुमारीके सौभाग्यकी याचना विफल हुई हो, ऐसा सुननेमें नहीं आया।[5]

'इन्द्रमहोत्सव'के प्रारम्भसे सम्बन्धित एक कथा 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित' (१।६।२१४–२५) में दी हुई है। एक बार ऋषभदेवके पुत्र भरतने इन्द्रदेवसे पूछा कि क्या आप स्वर्गमें भी इसी-रूपमें रहते हैं ? इन्द्रने उत्तर

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४ : पृ० ५१५३।
२. अन्तगडदसाओ ६ : पृ० ४०।
३. जैन शिलालेख संग्रह : भाग १, डॉ० हीरालाल सम्पादित, भूमिका, पृ० ३५।
४. निशीथचूर्णि : १९, पृ० ११७४।
५. उत्तराध्ययनसूत्र भाष्य ८ : पृ० १३९।

दिया कि वहांके रूपको मनुष्य देख ही नहीं सकता। भरतने देखनेकी इच्छा प्रकट की, तो इन्द्रने अलंकारोंसे सुशोभित अपनी एक अँगुली भरत को दी। वह जगतरूपी मन्दिरके लिए दीपकके समान थी। राजा भरतने अयोध्यामें उस अँगुली-की स्थापना कर जो महोत्सव मनाया वह इन्द्रमहोत्सवके नामसे प्रसिद्ध हुआ। यह कथा आवश्यक चूर्णि (पूर्वार्ध २१३५०) और वसुदेवहिण्डी (पृ० १८४) में भी दी हुई है।

४. लौकान्तिक देव

'लौकान्तिक' शब्द श्लेषवाची है। पहला अर्थ है लोकके अन्तमें रहनेवाले। लोकसे तात्पर्य है ब्रह्मलोक अर्थात् पाचवां स्वर्ग। दूसरा अर्थ है—लोकका अन्त समीप आ गया है जिनके, अर्थात् जो शीघ्र ही भवका नाश कर मोक्ष जानेवाले हैं। लौकान्तिक देव केवल एक जन्म और धारण कर मोक्ष चले जाते हैं।[1] ये देव सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट-के नामसे आठ प्रकारके होते हैं। सब समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं। सभी स्वतन्त्र होते हैं, किसी इन्द्रके अधीन नहीं रहते।[2]

वैमानिकोंमें लौकान्तिक देवोंका सर्वाधिक प्रतिष्ठित स्थान है। ये देवर्षि कहे जाते हैं। ऋषियोंके समान ही उनका वर्ण श्वेत, प्रवृत्ति शुभ और भाव वीतरागतासे पूर्ण होते हैं। अन्य देव उनका सम्मान करते हैं। वे चौदहपूर्वों (भगवान् महावीरसे पहलेका साहित्य) के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे तीर्थंकरोंके अन्य किसी उत्सवमें न जाकर केवल वैराग्यके समय ही जाते हैं।[3] तीर्थंकरमें यत्किंचित् रूपसे जगे वैराग्यभावको अधिकाधिक पुष्ट करना इन्हींका काम हैं।

जैन लोग लौकान्तिक देवोंकी युग-युगसे पूजा-स्तुति करते आये हैं। आचार्य जिनसेनके आदिपुराणमें लौकान्तिक देवोंको भक्त और स्तुत्य दोनों ही रूपोंमें

---

१. सर्वार्थसिद्धि : ४।२४।
२. देखिए वही : ४।२५।
३. "सर्वे एते स्वतन्त्राः हीनाधिकत्वाभावात्, विषयरतिविरहा देवर्षयः, इतरेषां देवानामर्चनीयाः, चतुर्दशपूर्वधराः, तीर्थंकरनिष्क्रमणप्रतिबोधन-परा वेदितव्याः।"
सर्वार्थसिद्धि : पृ० २५६।

प्रस्तुत किया गया है। जैन-स्तोत्रसन्दोह (प्रथम भाग) में, श्री धर्मघोषसूरिका लोकान्तिकदेव-स्तवन निबद्ध है।[1]

५. सूर्य

सूर्य ज्योतिषी देव है। 'ज्योतिस्स्वभावत्वात्' ही वह ज्योतिषी कहलाता है।[2] जैन शास्त्रोंके अनुसार सूर्यताराग़णोंसे दस योजन ऊपर रहता है। उससे ही काल-गणना की जाती है।[3] वह सदैव मेरुकी प्रदक्षिणा करता रहता है।[4] सूर्यलोकके जिनभवन सूर्यकान्त मणियोंसे जड़े रहते हैं। इनमें स्थित जिन-प्रतिमाओंकी पूजा-भक्ति भी विविध प्रकारसे होती रहती है।[5]

जैनोंमें भी सूर्य-पूजाका प्रचलन था। पूनाकी १९०७–८की पुरातत्त्व सम्बन्धी रिपोर्टसे विदित है कि ग्यारहवीं शतीके मध्य हिन्दू और जैन दोनों ही सूर्यकी भक्ति करते थे।[6] बम्बईकी १९१६–१७की रिपोर्टमें लिखा है कि निटोरामें भगवान् पार्श्वनाथका मन्दिर और सूर्यचैत्य दोनों ही जैनोंके बनवाये हुए हैं।[7] तिरोही राज्यके अन्दर वर्मन् नामके गाँवमें, एक रमणीक जैन मन्दिर है, जिसकी दीवालपर भगवान् सूर्यकी विशालकाय मूर्ति उत्कीर्णित है।[8]

६. नायगामेष

जैन पुराणोंके अनुसार नायगामेष गर्भधारणके देवता हैं। उनकी सद्कृपासे वन्ध्याएँ भी गर्भवती हुई हैं। अन्तःकृतदशांगमें लिखा है कि नायगामेषिन्के वरदान-से ही सुलसा गर्भधारण कर सकी थी। कहा जाता है कि देवनन्दा और त्रिशला-के मध्य गर्भ-परिवर्तनकी भूमिकामें नायगामेषका ही मुख्य हाथ था।

नायगामेषको नैमेष, हरिणेगमेष, नायगमेशिन्, नेजमेष और नैगमेष जैसे

---

१. जैनस्तोत्रसन्दोह : प्रथम भाग, ज परिशिष्टम् पृ० १०९।
२. 'ज्योतिस्स्वभावत्वात् ज्योतिष्काः' तत्त्वार्थवृत्ति : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० १५९।
३. सर्वार्थसिद्धि : ४।१४, पृ २४६।
४. 'मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयो नृलोके', तत्त्वार्थसूत्र : ४।१३, पृ० ९३।
५. यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति : ७।७१, पृ० ६६७।
६. C.L. Jain, Jain Bibliography, Calcutta 1955, p 60.
७. वही : पृ० ७१।
८. Shri Sitaram, History of Sirohi Raj from the Earliest times to the Present day, Allahabad, 1920, p. 73.

नामोंसे पुकारा जाता है। कल्पसूत्रमें हरिणेगमेष, नेमिनाथ-चरित्रमें नायगामेषिन् और शिलालेखोंमें प्राय: 'भगवतनैमेषो' नाम मिलता है।[1]

नायगामेषकी रूप-रेखा विचित्र होती है। उनका सिर बकरेका और अवशिष्ट भाग मनुष्यका रहता है। जैन धार्मिक कथाओंके अनुसार उनका सिर भेड़, बकरा, अथवा हिरनमें-से किसीका भी हो सकता है। कनिंघमने जिन चार नायगामेषकी मूर्त्तियोंको खोजा था, उनपर तो बैलका सिर लगा था। नायगामेषका दाहिना हाथ अभयमुद्रामें उठा रहता है और बायेंमें लड़के रहते हैं, एक अथवा दो। मथुरा संग्रहालयकी २५४७ नं० की नायगामेषकी मूर्त्ति चार बच्चोंके साथ उत्कीर्णित है। भगवान् सदैव नीचे आसनपर पलत्थी मारकर बैठते हैं।

नायगामेषके साथमें प्राय: उनकी पत्नी भी रहती है। उसका भी सिर ठीक वैसा ही होता है। यह बात मथुरा संग्रहालयकी अनेक मूर्त्तियोंसे प्रमाणित है। दोनोंकी मूर्त्तियाँ पृथक्-पृथक् भी बनती थीं। कर्जन म्यूजियम मथुराकी E. 1 पर पुरुष रूप और E. 2 पर स्त्री रूप है। दोनों मथुराके कंकाली टीलासे निकली हैं और दोनों कुषाण युगकी देन हैं। नायगामेष केवल गर्भधारणके ही देवता नहीं थे, किन्तु वे जैनधर्मका उपदेश देनेमें भी पटु थे। प्रथम ईसवी शतीकी लिपिमें अंकित एक शिलालेखके टुकड़ेसे ऐसा प्रमाणित है। इस शिलालेखके नीचेके भागमें अंकित नायगामेष अपने भक्तोंको उपदेश दे रहे हैं।[2]

७. ब्रह्मदेव

ब्रह्मदेव किसी सृष्टिका निर्माण नहीं करते, वे ब्रह्मासे पृथक् हैं। उनकी मूर्त्तियाँ स्तम्भकी चोटीपर स्थापित की जाती हैं। उनसे प्रमाणित है कि उनके दायें हाथमें कोई फल और बायें हाथमें कोड़ा रहता है। पैरोंमें खड़ाऊँ पहनते हैं, उनका वाहन घोड़ा है। श्रवणबेलगोलके एक जिनालयके नवरंगकी बायीं ओर एक गुफामें दो फ़ुट ऊँचो ब्रह्मदेवकी मूर्त्ति है, जिसमें उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हैं। इस मन्दिरका निर्माण होयसलनरेश बल्लाल द्वितीयके मन्त्री नागदेवने शक सं० १११८ में करवाया था।[3]

---

१. जैनसिद्धान्तभास्कर : भाग १७, किरण २, पृ० १०८।

२. Mathura Museum Catalogue, Part III, Edited By Dr. V. S. Agrawala, p. 32–33.

३. जैनशिलालेखसंग्रह : भाग १, भूमिका, 'श्रवणबेलगोलके स्मारक', पृ० ४५।

चन्द्रगिरि पर्वतके दक्षिणी दरवाज़ेपर कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ है। इसके शिखर-पर पूर्वमुखी ब्रह्मदेवकी पद्मासनस्थ प्रतिमा विराजमान है। यह स्तम्भ सन् ९७४ ई० पूर्वका बना हुआ है।[1] चन्द्रगिरि पर्वतके घेरेके बाहर एक मात्र इरुवे ब्रह्मदेव-का मन्दिर है। इसमें ब्रह्मदेवकी मूर्त्ति विराजमान है। यह मन्दिर दसवीं शताब्दीके मध्यका अनुमान किया जाता है।[2] विन्ध्यगिरिके प्रसिद्ध गोम्मटदेवके ठीक सम्मुख छह फ़ुटकी ऊँचाईपर ब्रह्मदेव स्तम्भ है। इसमें ब्रह्मदेवकी पद्मासनस्थ मूर्त्ति है। विन्ध्यगिरिपर त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ भी है। यहाँ दान दिया जाता था। यह स्तम्भ श्री चामुण्डरायने बनवाया था। स्तम्भपर खुदे लेख नं० १०९।२८१ से ऐसा स्पष्ट है।[3] विन्ध्यगिरिके नीचे सीढ़ियोंके समीप ही एक छोटा-सा ब्रह्मदेवका मन्दिर है। इसमें सिन्दूरसे रंगा हुआ एक पाषाण है, जिसे लोग ब्रह्मदेव या ज़ारुगुप्पे अप्प कहते हैं।[4]

८. नागदेव

नाग भवनवासी देवोंकी एक उपजाति है। जो देव भवनोंमें निवास करते हैं, उन्हें भवनवासी कहते हैं। ये दस प्रकारके होते हैं—असुर, नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तमित, उदधि, दीप और दिक्कुमार। कुमार शब्द प्रत्येकके आगे लगता है। सब भवनवासी देवोंका खेलना-कूदना, बात-चीत करना, अस्त्र-शस्त्र चलाना और वेश-भूषा समान तथा कुमारोंकी भाँति होती है, अतः उन्हें कुमार संज्ञासे अभिहित किया जाता है। जन्मसे लेकर मरण तक उनकी अवस्था भी एक-सी रहती है। रत्नप्रभा पृथिवीके पंकबहुल भागमें असुरकुमारोंके और खर भागमें अवशिष्ट नौ कुमारोंके भवन बने हुए हैं।[5]

जैनोंमें नागपूजा बहुत प्राचीन है। धरणेन्द्र और पद्मावती नागकुमारोंके दक्षिणी भागके इन्द्र और इन्द्राणी थे। धरणेन्द्रकी मूर्त्ति पाँच कोबरा सर्पोंसे और पद्मावतीकी तीन कोबरा सर्पोंसे विभूषित रहती है। भगवान् पार्श्वनाथ तो सर्पेश्वर ही कहलाते हैं। उनके सिरपर सात कोबरा सर्पोंका छत्र सदैव लगा

---

१. वही : पृ० १२–१३।
२. वही : पृ० १४।
३. वही : पृ० ४०।
४. वही : पृ० ४२।
५. सर्वार्थसिद्धि : ४।१०, पृ० २४३।

रहता है।[1]

यह उद्भावना कि शायद अनार्योंकी मनसा नामक सर्पकी पूजा ही धरणेन्द्रके रूपमें पार्श्वनाथके मस्तकका भूषण बन गयी हो,[2] आज भी खोजका विषय है। जैन लोग नागोंको पार्श्वनाथके भक्तके रूपमें ही पूजते हैं। धरणेन्द्र और पद्मावतीने तीर्थंकर पार्श्वनाथकी रक्षा कर अपनी भक्तिका परिचय दिया था। उसी समयसे जैन लोग उन्हें पूजने लगे होंगे। अतः नागपूजा भगवान् पार्श्वनाथके समयसे, प्रामाणिक रूपसे मानी जा सकती है। पार्श्वनाथका समय ईसासे ८५० वर्ष पूर्व सिद्ध हो चुका है।[3]

जैन पुरातत्त्वमें भी नागचैत्य, मूर्त्तियों और नाग पाषाणोंका अस्तित्व पाया जाता है। मद्रासकी १९१२-१३की पुरातत्त्वसम्बन्धी रिपोर्टसे विदित है कि मलाबार ज़िलेमें पलघट नामके स्थानपर बने जैनमन्दिरमें, नागमूर्त्तियाँ और नाग पाषाण विराजमान हैं।[4] मद्रासकी ही १९१४-१५की रिपोर्टमें लिखा है कि दक्षिणी भारतके जैनोंमें नागपूजाका प्रचलन था और दक्षिण कन्नड़के मन्दिरोंमें कालिय नागकी मूर्त्तियोंका जमघट रहता था। वहाँ नाग-पाषाणोंपर द्रव्य चढ़ानेकी भी प्रथा थी।[5] राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेरकी ३१ मार्च १९१९ की रिपोर्टके अनुसार, दिगम्बर जैन ऋषभदासके पुत्र रामने अलवर राज्यान्तर्गत गाजी नामके स्थानपर एक प्रासाद और उसीसे संलग्न वाटिकाका निर्माण करवाया था, जिसमें देवाजी—जो सर्पोंके देवता कहे जाते हैं—की मूर्त्तिको धूम-धामसे विराजमान किया गया था।[6] मद्रासके त्रावनकोरमें चित्तरालके समीप नागरकोयल नामक स्थानपर नागराजका एक विशाल जैनमन्दिर है।[7] तामिल प्रान्तके

---

१. Maurice Bloomfield, The life and stories of the Jaina Saviour Parcwanatha: Baltimore, 1919, Introduction, p. 20.
२. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, भारतीय तत्त्वचिन्तन : पृ० ९२-९३।
३. Dr. A. S. Altekar, Mantrashastra and Jainism : Banaras, P. 9.
४. C.L Jain, Jain Bibliography, p. 13.
५. देखिए, वही : पृ० ९५।
६. देखिए, वही : पृ० १६०।
७. त्रिवेन्द्रम्की पुरातत्त्वसम्बन्धी रिपोर्ट १९१६-२१ : पृ० ११५-१३०, Jain Bibliography, p. 166-67 से उद्धृत।

तिरुनागेश्वरम्‌में भी नागनाथ स्वामीका एक मन्दिर है, जिसमें एक देवी और अन्य प्रतिमाएँ भी सुशोभित हैं।[1]

नाग-उत्सव

नागदेवताकी भक्तिमें जैन जनता समय-समयपर उत्सव भी मनाती रही है। णायाधम्मकहाओमें सर्पपूजनके उत्सवका नाम 'नागयत्ता' दिया हुआ है। एक बार इस अवसरपर साकेतके इक्ष्वाकुवंशके राजा प्रतिवुद्धि और उनकी धर्मपत्नी पद्मावती-ने, मोरपंखकी कूचीसे नागदेवताकी मूर्त्तिको झाड़कर सुगंधित जलसे नहलाया, फिर पुष्पमाला और दीप-धूपसे उसकी वन्दना की। इस अवसरपर राजधानीकी सड़कें गुलाबजलसे छिड़क दी जाती थीं। रानी वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो अनेक सुन्दरी कन्याओंके साथ प्रासादसे नागचैत्य तक पैदल यात्रा करती थी।[2] श्री सी० एफ० ओल्धमकी 'दी सन एण्ड दी सर्पेण्ट' से भी स्पष्ट है कि जैन लोग नागोंकी भक्तिमें बड़े-बड़े उत्सव मनाते थे।

नागपूजाका महत्त्व

'एनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन्स' के अनुसार प्राचीन समयमें नागको उपजका देवता और गड़े हुए धनका पहरेदार माना जाता था। आगे चलकर वही नाग स्त्रियोंके बाँझपनको भी दूर करने लगा।[3] एक विधवा ब्राह्मणीके गर्भसे सातवाहनका जन्म नागराजकी कृपासे ही हुआ था। जब उज्जयिनीके सम्राट् विक्रमादित्यने सातवाहनको मरवानेका उपक्रम रचा, तब उस ब्राह्मणीने निर्मल जलसे स्नान कर, भरे घड़ेको सिरपर रखकर, नाग-नायककी अर्चना की, और उस बालकका बाल भी बाँका न हो सका, प्रत्युत वह ही उज्जयिनीके सिंहासन-पर अधिष्ठित हुआ।[4] वक्रगतिके कारण नागको पानीका भी देवता माना जाता है। विविधतीर्थकल्पके 'रत्नवाहनपुरकल्प' में लिखा है कि—रत्नपुरस्थ धर्मनाथके मन्दिरमें नाग देवताकी मूर्ति अधिष्ठित थी। वर्षाके अभावमें इस मूर्तिको एक-सहस्र

---

१. देखिए, वही : पृ० २०९।

२. णायाधम्मकहाओ : आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९, १।८।४४।

३. एनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन्स : ११।३९९।

४. राजशेखरसूरि, प्रबन्धकोश : सिंघी जैनग्रन्थमाला, 'सातवाहनप्रबन्धः', पृ० ६७-६८।

कलशोंसे नहलानेपर, तत्क्षण मेघ-वृष्टि हो जाती है।[1] जब गंगा आस-पासके गाँवमें उपद्रव मचाने लगी, तो उसके जलको समुद्रमें गिरानेके लिए, राजा सगरने अपने पौत्र भगीरथको भेजा। उन्होंने 'अष्टापद' पर जाकर नागदेवताओंकी भक्ति-पूर्वक पूजा की, जब वे प्रसन्न हुए, तो उनकी अनुमति पाकर भगीरथ यह दुरूह कार्य सम्पन्न करनेमें समर्थ हो सके। गंगाका पानी समुद्र तक पहुँच गया। नाग-देवताओंकी अनुमतिके बिना, भगीरथके लिए यह सम्भव न था। नाग जलके बलशाली देवता माने जाते हैं।[2]

नागजाति और नागदेवता

त्रिभुवनके 'पंचमी चरिउ' और पुष्पदंतके 'णायकुमार चरिउ' आदि ग्रन्थोंमें जिन नागकुमारोंका वर्णन है, वे कामदेवके अवतार थे और उनकी पत्नियाँ रति-रूपा थीं। जैनोंने उनको भवनवासी देवताके रूपमें स्वीकार किया है। यह कथन भ्रामक ही है कि जैन लोग, भारतकी प्राचीन नाग जातिके किसी राजा-महाराजाके भक्त थे।

श्री के० एम० मुन्शीने नाग जातिका निवास दक्षिण भारत माना है, उनका रंग काला और शकल भद्दी थी।[3] डॉ० हीरालाल जैनके अनुसार नाग सतपुड़ाके दक्षिण आज-कलके नागपुरके समीप ही रहते थे। उन्होंने भी नागोंको काला और बदसूरत माना है।[4] जनमेजयने जिन नागोंकी आहुति दी थी, वे सर्प न होकर ये नाग ही थे। स्पष्ट है कि जैनोंकी भक्ति इस नागजातिके चरणोंमें समर्पित नहीं हुई।

९. भूत

भूत व्यन्तर देवोंकी एक उपजाति है। जैन लोग उनकी पूजा करते रहे हैं। थर्स्टनने लिखा है कि कन्नड़प्रान्तके जैनोंमें प्राचीन समयसे भूतोंकी पूजा-भक्तिका प्रचलन है। उनके घरोंमें एक कक्ष पृथक्‌से भूतोंके लिए ही निर्धारित रहता है।[5]

---

१. विविधतीर्थकल्प : पृ० ३३।

२. उत्तराध्ययन : १८।३५, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र : २।५–७, वसुदेव-हिण्डी : ३०४–५ पृ०।

३. देखिए, के० एम० मुन्शीका—'भगवान् परशुराम।'

४. डॉ० हीरालाल जैन, णायकुमार चरिउ : भूमिका, पृ० xxxvii।

५. Thurston, The Castes and Tribes of Southern India : Part II, p. 427.

प्रोफ़ेसर जैकोबीने भी लिखा है, "साधारणतया भूत-प्रेतोंके प्रति जैनोंका वही भाव था जो हिन्दुओंका, हाँ, उन्होंने भूतोंको जैन साँचेमें ढाल लिया था।[1]"

निशीथचूर्णिमें जिन चार बड़े उत्सवोंका उल्लेख है, उनमें एक भूयमह भी है। अर्थात् जैन लोग भूतोंको प्रसन्न करनेके लिए महोत्सव मनाते थे। उत्तराध्ययन (३६, २०५) से भी स्पष्ट है कि भूतमह प्राचीनकालका एक विशिष्ट पर्व था। किन्तु जैनोंने भूतोंकी पूजा, केवल उनके विघ्नोंको दूर करनेके लिए ही की, उन्हें प्रसन्न कर वरदान माँगनेके लिए नहीं। भूतोंका उपद्रव दूर करनेके लिए अनेक जैन मन्त्रोंकी रचना हुई। 'भैरवपद्मावती-कल्प' का एक पूरा सर्ग भूतोंके मन्त्रोंसे ही युक्त है।[२] जैन स्त्रियाँ, अपने घरके रोगोंको भूतोंकी देन मानकर उन्हें प्रसन्न करनेके लिए, पीपलके वृक्षोंपर जल चढ़ाने जाती रही हैं। वे बुद्धिमती थीं और उन्होंने 'दुष्टं प्रथमं नमस्कृत्य' वाला सूत्र भली भाँति समझ लिया था।

---

1. Jacobi, Demons and Spirits, E.R.E. IV, p. 608, Ibid Cosmography : p. 160-61.
२. देखिए, भैरवपद्मावती-कल्प : सातवाँ परिच्छेद।

सहायक ग्रन्थोंकी सूची

संस्कृत

१. अकलंक स्तोत्र : भट्टाकलंक—हिन्दी टीकासहित, मुन्शी नाथूराम, कटनी मुड़वारा, जबलपुर, वि० सं० १९६३।

२. अभिधान चिन्तामणि : आचार्य हेमचन्द्र—भावनगर, वी० नि० सं० २४४१।

३. अभिधान राजेन्द्रकोश : रतलाम, १९१३—१९३४ ई०।

४. अमरकोश : संक्षिप्त माहेश्वरीटीका युक्त, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४० ई०।

५. आप्तपरीक्षा : आचार्य विद्यानन्दि—पं० दरबारीलाल कोठिया सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९४९ ई०।

६. उत्तरपुराण : आचार्य गुणभद्र—पं० पन्नालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०११।

७. उपदेश-सप्ततिका : श्रीमत्सोधर्मगणि, आत्मानन्द सभा, भाव-नगर, १९३७।

८. काशिकावृत्ति : वामन जयादित्य विरचित, एस० मिश्रा सम्पादित, बी० जिज्ञासुकी भूमिकासहित, तृतीय संस्करण, बनारस, १९५२ ई०।

९. काव्यप्रकाश : मम्मट—नारायण शास्त्री और मुकुन्द शास्त्री खिस्ते सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत-ग्रन्थमाला, बनारस, वि० सं० १९८४।

१०. क्रियाकोश : किशनसिंह, जैन पुस्तक भवन, हरीसन-रोड, कलकत्ता।

११. काव्यमाला—सप्तम गुच्छक : (चतुर्थ संस्करण) महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद, वासुदेव-शर्मा सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई०।

१२. जिनसहस्रनाम : पं० आशाधर—पं० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१० ।

१३. जैनस्तोत्रसंदोह (सं०, प्रा०, अप०) भाग १,२ : मुनि चतुरविजय सम्पादित, प्रकाशक—साराभाई मणिलाल नवाब, प्रथम भाग-वि० सं० १९८९, दूसरा भाग वि० सं० १९९२ ।

१४. जैनस्तोत्रसमुच्चय (सं०,-प्रा०, अप०) : मुनि चतुरविजय सम्पादित, प्रकाशक—पांडुरंगजावजी, निर्णयसागर प्रेस, वि० सं० १९८४ ।

१५. जैन शिलालेखसंग्रह : प्रथम भाग—हीरालाल जैन सम्पादित, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, २८वाँ ग्रन्थ ।

१६. जैन शिलालेखसंग्रह : दूसरा भाग—पं० विजयमूर्त्ति सम्पादित, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, ४५वाँ ग्रन्थ ।

१७. जैन लेखसंग्रह : भाग १—श्री पूर्णचन्द्र नाहड सम्पादित, कलकत्ता ।

१८. जैन धातुप्रतिमालेखसंग्रह : प्रथम भाग—श्रीबुद्धिसागरसूरि सम्पादित ।

१९. तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति : पं० कैलाशचन्द्र जैन सम्पादित, भारतीय दिगम्बर जैनसंघ, चौरासी, मथुरा, वी० नि० सं० २४७७ ।

२०. तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति : पं० सुखलाल संघवीके विवेचनसहित, जैन संस्कृति संशोधन-मण्डल, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, सन् १९५२ ई० ।

२१. तत्त्वार्थवार्त्तिकम् : भट्टाकलंक—पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, जनवरी १९५३ ई० ।

२२. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामी, पं० मनोहरलाल न्यायशास्त्री सम्पादित, गाँधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१८ ई० ।

२३. तत्त्वार्थवृत्ति : श्रुतसागरसूरि—पं० महेन्द्रकुमार जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१० ।

२४. तत्त्वसार : ब्र० शीतलप्रसादजीकी हिन्दीटीकासहित, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत ।

२५. दशभक्ति : (सं०, प्रा०) : आचार्य प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथके मराठी अनुवाद सहित, प्रकाशक—तात्या गोपाल शेटे, शोलापुर, सन् १९२१ ई० ।

२६. दशभक्त्यादिसंग्रह : श्री सिद्धसेन जैन गोयलीय सम्पादित, प्रकाशक—अखिल विश्व जैनमिशन, गुजरात प्रान्तीय केन्द्र, सलाल (साबरकांठा), गुजरात ।

२७. द्वात्रिंशिका स्तोत्र : आचार्य सिद्धसेन—श्री उदयसागरसूरि सम्पादित, गुजराती व्याख्यायुक्त, जैन-धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०३ ई० ।

२८. दर्शनसार : देवसेनाचार्य—पं० नाथूराम प्रेमी सम्पादित, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२० ई० ।

२९. धनञ्जय नाममाला : धनञ्जय—पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००९ ।

३०. पद्मचरित्र : रविषेण—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२८ ई० ।

३१. पार्श्वनाथ चरित्र : श्रीमद्वादिराजसूरि—पं० श्रीलाल जैनके हिन्दी अनुवादसहित, प्रकाशक—जयचन्द जैन, श्यामबाजार, कलकत्ता, वी० नि० सं० २४४८ ।

३२. पंचस्तोत्रसंग्रह : पं० पन्नालाल जैनके भाषानुवादसहित, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत ।

३३. प्रबन्धकोश : राजशेखरसूरि—मुनि जिनविजय सम्पा-

दित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, शान्ति निकेतन, वि० सं० १९९१ ।

३४. प्रभावक चरित्र : प्रभाचन्द्राचार्य—मुनि जिनविजय सम्पादित, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९४० ई० ।

३५. प्रबन्धचिन्तामणि : मेरुतुंगाचार्य—मुनि जिनविजय सम्पादित, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, वि० सं० १९८९ ।

३६. प्रतिष्ठासार : पं० आशाधर—पं० मनोहरलाल शास्त्रीके हिन्दी अनुवादसहित, जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बम्बई, १९१८ ई० ।

३७. प्रतिष्ठातिलक : नेमिचन्द्राचार्य—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१४ ई० ।

३८. प्राचीन लेखसंग्रह : पुरुषोत्तमदास गौड़, जोधपुर, १९२४ ई० ।

३९. पातञ्जल योगदर्शन : श्रीमद् हरिहरानन्दकी हिन्दी व्याख्यासहित, भगीरथ मिश्र सम्पादित, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

४०. प्राचीन जैनलेखसंग्रह (सं०, प्रा०) द्वितीय भाग—मुनि जिनविजयजी सम्पादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, विद्याभवन, बम्बई ।

४१. बृहत् कल्पभाष्य : संघदास गनी वाचक, आत्मानन्द जैन-सभा, भावनगर, १९३४ ई० ।

४२. बृहत् कथाकोश : श्री हरिषेणाचार्य—डॉ० ए०एन० उपाध्ये सम्पादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १७वाँ ग्रन्थ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई ।

४३. बृहज्जिनवाणीसंग्रह (सं०, प्रा०, हि०) : स्व० पं० पन्नालाल बाकलीवाल सम्पादित, १९वाँ संस्करण, जैन ग्रन्थ कार्यालय, मदनगंज, किशनगढ़, सितम्बर, १९५६ ई० ।

४४. भक्तिसूत्रम् : नारदप्रोक्तम्—रायबहादुर पण्ड्या बैजनाथकी हिन्दी टीकासहित, बनारस, १९३३ ई० ।

४५. भक्तिगुच्छक : पं० बलभद्र सम्पादित, अहिंसा मन्दिर, दिल्ली, वी० नि० सं० २४८३ ।

४६. भानुचन्द्रगणि : मोहनलाल दुलीचन्द देशाईकी प्रस्तावनाके साथ, मुनि जिनविजय सम्पादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई ।

४७. भावसंग्रह : देवसेन—पं० पन्नालाल सोनी सम्पादित, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२१ ई० ।

४८. भैरवपद्मावती-कल्प : मल्लिषेण—के० वी० अभ्यंकर सम्पादित, प्रकाशक—साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, सन् १९३७ ई० ।

४९. भैरवपद्मावती-कल्प : मल्लिषेण—पं० चन्द्रशेखर शास्त्री सम्पादित, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वी० नि० सं० २४७९ ।

५०. महापुराण (भाग १-२) : भगवज्जिनसेनाचार्य—पं० पन्नालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००७ ।

५१. मोहपराजय : यशपाल मोड़—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज संख्या ९, बड़ौदा, १९१८ ई० ।

५२. युक्त्यनुशासन : आचार्य समन्तभद्र—पं० जुगलकिशोर मुख्तार-सम्पादित, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली ।

५३. यशस्तिलकचम्पू (भाग १-२) आचार्य सोमदेव—काव्यमालाका ७०वाँ ग्रन्थ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०१-१९०३ ई० ।

५४. विविधतीर्थ-कल्प : जिनप्रभसूरि—मुनि जिनविजय सम्पादित, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्ति-निकेतन, वि० सं० १९९० ।

५५. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र : श्री रामनारायणदत्त शास्त्रीके भाषानुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

५६. शासन चतुस्त्रिंशिका : मदनकीर्ति—पं० दरबारीलाल कोठिया

सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, वि० सं० २००६।

५७. श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्र : श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामी—पं० दरबारीलाल कोठिया सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, वि० सं० २००६।

५८. श्रुतावतार : इन्द्रनन्दि—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

५९. समीचीन धर्मशास्त्र : आचार्य समन्तभद्र—पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, अप्रेल १९५५।

६०. समाधितंत्र : आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद—पं० परमानन्द शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद, पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९३९ ई०।

६१. सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद—पं० फूलचन्द्र जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२।

६२. सामायिक पाठ : अमितगति—ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जैन सम्पादित, धर्मपुरा देहली, वि० सं० १९७७।

६३. साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ—शालिग्राम शास्त्री कृत हिन्दी-टीकासहित, श्री मृत्युञ्जय औषधालय, लखनऊ, द्वितीयावृत्ति, वि० सं० १९९१।

६४. सूर्यप्रज्ञप्ति : आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९ ई०।

६५. स्तुति-विद्या : स्वामी समन्तभद्र—पं० पन्नालाल जैनके हिन्दी अनुवाद और पं० जुगलकिशोर मुख्तारकी भूमिकासहित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, वि. सं. २००७।

६६. स्वयम्भू स्तोत्र : स्वामी समन्तभद्र—पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर,

सरसावा, सहारनपुर, वि. सं. २००८।

६७. हरिवंशपुराण (खण्ड १-२) : श्री जिनसेन—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३० ई०।

६८. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : पूज्यपाद श्रीरूप गोस्वामी, गोस्वामी दामोदरलाल सम्पादित, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, प्रथम-संस्करण, वि० सं० १९८८।

६९. ज्ञानार्णव : आचार्य शुभचन्द्र, रायचन्द जैन शास्त्र-माला—२; श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई।

७०. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि (सं०, प्रा०, हि०) : डॉ० ए० एन० उपाध्ये सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ई०।

प्राकृत

७१. अष्ट पाहुड़ : आचार्य कुन्दकुन्द—श्री पाटणी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, मारवाड़।

७२. आवश्यक सूत्र : आवश्यक निर्युक्तिसहित, आगमोदय समिति ग्रन्थोद्धार, सूरत।

७३. कुरल काव्य : आचार्य कुन्दकुन्द—पं० गोविन्दराय जैनके हिन्दी-संस्कृत अनुवादसहित, महरौनी, झाँसी, वी० नि० सं० २४८०।

७४. गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड : आचार्य नेमिचन्द्र—रायबहादुर जुगमन्दर-लाल जैनी सम्पादित, दी सेण्ट्रल जैन पब्लिशिङ् हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ, सन् १९२७ ई०।

७५. चेइयवंदणमहाभासं : श्री शान्तिसूरि संकलित—मुनि श्री चतुर-विजय और पं. बेचरदास सम्पादित, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७७।

७६. जयति हुअण स्तोत्त : जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम।

७७. तत्त्वसमुच्चय : डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, भारत जैन महामण्डल, वर्धा, १९५२ ई०।

७८. तिलोयपण्णत्ति (भाग १-२) : श्री यतिवृषभाचार्य—डॉ० ए० एन० उपाध्ये और डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९४३ ई० ।

७९. निशीथचूर्णि : जिनदास गनी—विजयप्रेम सूरीश्वर सम्पादित, वि० सं० १९९५ ।

८०. पउमचरिय : विमल सूरि—डॉ० याकोबी सम्पादित, जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर, १९१४ ई० ।

८१. पाइअ-सद्द-महण्णव : पं० हरगोविन्ददास त्रिकम सेठ सम्पादित, प्रथम संस्करण, कलकत्ता, १९२८ ई० ।

८२. पुरातन जैनवाक्य सूची (प्रथम भाग) : पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९५० ई० ।

८३. प्राकृत व्याकरण : आचार्य हेमचन्द्र—डॉ० आर० पिशेल सम्पादित, संस्कृत सीरीज, बम्बई, १९०० ई० ।

८४. बृहद् द्रव्यसंग्रह : आचार्य नेमिचन्द्र—कुमार देवेन्द्रप्रसादजी-की अंग्रेजी टीका सहित, आरा ।

८५. भगवतीसूत्र : बेचरदास भगवानदास सम्पादित, जिनागम-प्रकाश सभा, अहमदाबाद, वि० सं० १९७९–१९८८ ।

८६. भगवती आराधना : शिवार्यकोटि—मुनि श्री अनन्तकीर्त्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अष्टम पुष्प, हीराबाग, बम्बई ।

८७. महाबंध (प्रथम भाग) : भूतबलि—सुमेरचंद दिवाकर सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मई १९४७ ई० ।

८८. मूलाचार : वट्टकेरि—पं० पन्नालाल सोनी सम्पादित, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२० ई० ।

८९. लघुद्रव्यसंग्रह : आचार्य नेमिचन्द्र—पं० भुवनेन्दु सम्पा-

दित, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, वि० सं० १९९२।

९०. वसुनन्दिश्रावकाचार : आचार्य वसुनन्दि—पं० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००९।

९१. वसुदेव हिण्डी : संघदास गनी वाचक—आत्मानन्द सभा, भावनगर।

९२. विवागसूय : बड़ौदा, १९२२ ई०।

९३. विसुद्धिमग्ग : आचार्य बुद्धघोष — कौशाम्बीजीकी दीपिकाके साथ, बनारस।

९४. षट्खण्डागम : पुष्पदन्त भूतबलि—डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, अमरावती, वि० सं० १९९६।

९५. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द—पं० परमेष्ठीदासकी हिन्दी-टीकासहित, श्री पाटणी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ (मारवाड़), १९५३ ई०।

अपभ्रंश

९६. अन्तगडदसाओ : पी०एल० वैद्य सम्पादित, पूना, १९३२ ई०।

९७. अपभ्रंश काव्यत्रयी : लालचन्द गान्धी सम्पादित, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, ३७वाँ ग्रन्थ, बड़ौदा-सन् १९२० ई०।

९८. करकंडचरिउ : मुनि कनकामर—डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा (बरार), वि० सं० १९९१ ई०।

९९. जसहरचरिउ : पुष्पदन्त, डॉ० पी० एल० वैद्य सम्पादित, जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा (बरार)।

१००. णायकुमारचरिउ : पुष्पदन्त—डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित,

जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा (बरार), १९३३ ई० ।

१०१. पउमचरिउ : स्वयम्भू—देवेन्द्रकुमार जैनके हिन्दी अनुवादसहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ई० ।

१०२. परमात्मप्रकाशः योगसारश्च : योगीन्दु—डॉ० ए०एन० उपाध्ये सम्पादित, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९३७ ई० ।

१०३. पाहुड़दोहा : मुनि रामसिंह, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा (बरार), वि० सं० १९९० ।

१०४. महापुराण (भाग १–३) पुष्पदन्त—डॉ० पी० एल० वैद्य सम्पादित, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९३७–१९४१ ।

१०५. सावयधम्मदोहा : देवसेन, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा (बरार), १९३२ ई० ।

हिन्दी

१०६. अनासक्तियोग : गीताका महात्मा गान्धीकृत हिन्दी विवेचन, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली, १९४९ ई० ।

१०७. अपभ्रंश साहित्य : प्रो० हरिवंश कोछड़, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, वि० सं० २०१३ ।

१०८. अशोकके फूल : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

१०९. उत्तर प्रदेशमें बौद्धधर्मका विकास : डॉ० नलिनाक्षदत्त और श्री कृष्णदत्त वाजपेयी—उत्तर प्रदेश सरकार प्रकाशन ब्यूरो, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९५७ ई० ।

११०. कल्याण (भक्तिविशेषांक). चिमनलाल गोस्वामी सम्पादित, गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष ३२, अंक १ ।

१११. खण्डहरोंका वैभव : मुनि कान्तिसागर—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३ ई० ।

११२. खोजकी पगडण्डियाँ : मुनि कान्तिसागर—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३ ई० ।

११३. चौलुक्य कुमारपाल : लक्ष्मीशंकर व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३ ई० ।

११४. जैनबद्रीके बाहुबली तथा दक्षिण भारतके अन्य जैन तीर्थ : सुरेन्द्रनाथ श्रीपालजी जैन—जैन पब्लिसिटी ब्यूरो, जुबलीबाग़, तारदेव, बम्बई ।

११५. जैन साहित्य और इतिहास : पं० नाथूराम प्रेमी—नवीन संस्करण, संशोधित साहित्यमाला, बम्बई, अक्टूबर १९५६ ।

११६. जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश : जुगलकिशोर मुख्तार, वीरशासनसंघ, कलकत्ता, वी० नि० सं० २४४९ ।

११७. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार : फतेहचन्द बेलानी—जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी, बनारस विश्वविद्यालय, १९५० ई० ।

११८. जैनाचार्य : मूलचन्द वत्सल—दि० जैन पुस्तकालय, सूरत ।

११९. जैनधर्म : पं० कैलाशचन्द जैन, भारतीय दिग० जैन संघ चौरासी, मथुरा, १९५५ ई० ।

१२०. दो हज़ार वर्ष पुरानी कहानियाँ : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दिसम्बर १९४६ ई० ।

१२१ धर्मध्यानदीपक : मांगीलाल हुकुमचन्द पण्ड्या, कलकत्ता, वी० नि० सं० २४७७ ।

१२२. बंगाल-बिहार-उड़ीसाके जैन स्मारक : ब्र० शीतलप्रसादजी सम्पादित, प्राचीन श्रावकोद्धारिणी सभा, कलकत्ता, वी० नि० सं० २४४९ ।

१२३. बृहत् जैन शब्दार्णव : पं० बिहारीलाल जैन संकलित—ब्र० शीतलप्रसाद सम्पादित, सूरत ।

१२४. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००० ।

१२५. भारतीय तत्त्व-चिंतन — डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, बम्बई।
१२६. युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि — अगरचन्द नाहटा—मल्लिकलेन, कलकत्ता, वि० सं० २००३।
१२७. रामचरितमानस — गो० तुलसीदास—गोरखपुर, वि० सं० २००९।

ENGLISH

128. *An Essay on the origin of the South Indian Temples* : N. Venkata X Ram Nayya, Methodist Publishing House, Madras, 1930.
129. *Ancient Jaina Hymns* : Dr. Charlottee Krause Edited, Scindia Oriental Institute, Ujjain, 1952.
130. *Arts and crafts* : Dr. A. K. Kumar .swami.
131. *Cambridge History of India, Vol. I* : E. J. Rapson Edited, S. Chand and Co., Delhi, 1955.
132. *Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Jain Bhandaras at Patan* : Lal Chand Bhagvandas Gandhi—Oriental Institute, Baroda, 1937.
133. *Early History of India* : Prof V. A. Smith, Oxford, 1903.
134. *History of Indian Literature* : Dr. Winternitz—Calcutta University, Vol II, English Translation Calcutta, 1933.
135. *History of Sirohi Raj from the Earliest Times to the present day* : Sitaram, Allahabad, 1920.
136. *Jain Sutras, Pt. II* : Hermann Jacobi, Max Muller Edited, Sacred Books of the East, Vol XLV. Oxford, 1895.
137. *Jina Ratan Kosa Vol I* : Hari Damodar Valankar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1944.
138. *Jain Bibliography* : C. L. Jain, Bharati Jain Parisat, Gaur Laha Street, Calcutta, 1945.
139. *Jainism in Calinga Desa* : Dr. Bool Chand Jain, Jain Cultural Research Society, Banaras Hindu University, Banaras.
140. *Jain Iconography* : V. C. Bhattacharya, Lahor, 1937.
141. *Life in Ancient India, as depicted in Jain Canons* : Jagdish Chandra Jain, New Book Company, Ltd. Bombay, 1947.

142. *Life and Stories of the Jaina Savior Parcuanatha : Maurice Bloomfield*, Baltimore, the Johns-Happins Press, 1919.

143. *Mantra Shastra and Jainism* : A. S. Altekar, Jain Cultural research Society, Banaras Hindu University, Banaras.

144. *Mathura Museum catalogue, Part III* : Dr. V. S. Agrawal, U. P. Historical Society, Lucknow, 1952.

145. *Naya Dhamma Kaha* : N. V, Vaidya Edited, Poona, 1940.

146. *Operations in Search of Sanskrit MSS. in the Bombay Circle* : Peterson, Bombay.

147. *Patanjalis, Yoga Sutras* : Translated in English by Rama Prasad, Edited by Major B. D. Basu, Sacred Books of the Hindus, Vol IV, Allahabad, 1924.

148. *Progress Report of the archaeological Survey of Western India*, Poona, 1901.

149. *Progress Report of the Archaeological Survey of Western India* Poona, 1912.

150. *Report of the Archaeological Survey* : Northern Circls, 1905-1906, Lahor.

151. *Some Jain Canonical Sutras* : Bimla Charan Law, Royal Asiatic Society, Bombay Branch, Bombay, 1949.

152. *Studies in Jainism* : Dr. Hermann, Jacobi Jina Vijaya Muni Edited, Jain Sahitya Sansodhak Karyalya, Ahmedabad.

153. *The heart of Jainism* : Mrs. Sinclair Stevenson, Oxford University Press, 1915.

154. *The Jain Stupa and other antiquities of Mathura* : Prof. V. A. Smith.

155. *The age of Imperial Unity* : R. C. Majumdar Edited, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, Second Edition, 1953.

156. *The Dialogues of Buddha, Vol II* : Rhys Davids, Sacred Books of the Buddhists; Oxford University Press.

157. *Yasastilak and Indian Culture* : Prof K, K. Handiqui, Jain Sanskriti Samrakshaka Sangha, Sholapur, 1949.

पत्र-पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त—वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली ।
२. कल्याण—गीताप्रेस, गोरखपुर ।
३. काशी नागरीप्रचारिणी पत्रिका—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
४. जैन सिद्धान्त भास्कर—जैन सिद्धान्त भवन, आरा ।
५. भारतीय विद्या—भारतीय विद्या भवन, बम्बई ।
६. भारतीय साहित्य—हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा ।
७. सम्मेलन पत्रिका—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।
८. हिन्दी अनुशीलन—भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग ।
9. *Indo Asian Culture :* Royal Asiatic Society.
10. *The Jain Antiquary :* The Central Jain Oriental Library, Arrah.

अभिनन्दन ग्रन्थ

१. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ ।
२. सेठ हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ ।

शब्दानुक्रमणिका

●